रत्नकरंड श्रावकाचार

लेखक—
उग्रसेन जैन एम. ए.

ट संख्या ११४

॥ वन्दे जिनवरम् ॥

रत्नकरण्ड श्रावकाचार

लेखक—

पं० उग्रसैन जैन

एम ए. एल-एल बी वकील

रोहतक ।

प्रकाशक—

मन्त्री, जैन मित्र-मण्डल

धर्मपुरा, देहली ।

प्रथम बार	वैसाख	मूल्य
	वीर-निर्वाण सं० २४६६	
१०००	मई १९४०	॥=)

प्रकाशक—
मन्त्री, जैन मित्र मण्डल,
धर्मपुरा, देहली।

मुद्रक—
बालकृष्ण एम. ए,
वीर प्रेस आफ इण्डिया
कनॉट सर्कस, नई देहली।

दो शब्द

श्रीमान् बा० उग्रसैनजी जैन M. A. LL. B. वकील रोहतक समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान हैं। आपके हृदय में धर्म और समाज सेवा की सच्ची लगन है, साथ ही आप एक उत्तम लेखक भी हैं। आपने जैन धर्म का अच्छा मनन और परिशीलन किया है। आप की लिखी हुई धर्म शिक्षावली चारों भाग तथा पुरुषार्थ सिद्धयुपाय की हिन्दी टीका परिषद् परीक्षा बोर्ड के कोर्स में वर्षों से नियत है, और उनसे विद्यार्थियों को पर्याप्त लाभ हुआ है।

जैन मित्र मण्डल से आपको अत्यन्त प्रेम है और हर समय हर प्रकार से आप मण्डल की सहायता के लिये तत्पर रहते हैं मण्डल कई वर्ष पूर्व आपकी एक स्त्रियोपयोगी पुस्तक नारी शिक्षादर्श प्रकाशित कर चुका है। पुस्तक बहुत गम्भीरता के साथ लिखी गई है और अपने विषय की एक अनुपम पुस्तक है। जनता ने उसको बहुत पसन्द किया और स्त्री समाज के लिये वह अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई।

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार स्वामी समन्तभद्र आचार्य की अनुपम कृति है, और इसमें वास्तवमें गागर में सागर भर दिया गया है, साथ ही वह गृहस्थों के लिये अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। इसकी छोटी बड़ी अनेक टीकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं, परन्तु हमारी हार्दिक अभिलाषा थी कि इस ग्रन्थ की एक ऐसी टीका प्रकाशित की जाए जो गृहस्थों को उपयोगी होने के साथ साथ

स्कूल और पाठशालाओं के छात्रों के लिये भी अत्यन्त लाभदायक हो और जिसमें ग्रन्थ से संबन्धित सभी विषयों का वर्णन हो।

आज इस ग्रन्थ को प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। लेखक महोदय ने ग्रन्थ के विषय को जिस उत्तम रीति से प्रतिपादन किया है उसकी जितनी प्रशंसा की जाए थोड़ी है। इस विषय में आपका परिश्रम अत्यन्त सराहनीय है जिसके लिये मित्र मण्डल आपका हृदय से अत्यन्त आभारी है।

मित्र मण्डल समाज की पुरानी और प्रतिष्ठित संस्था है और इसका उद्देश्य जैन सिद्धान्त के प्रचारार्थ कम से कम और लागत मात्र मूल्य पर उपयोगी पुस्तकों व ट्रैक्टों को आम जनता तक पहुँचाना है। मण्डल का ११४ वाँ पुष्प इस ग्रन्थ के रूप में आप के सन्मुख है। आप स्वयं इस बात का अनुभव करेंगे कि इस २७२ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य केवल दस आने रखा गया है। हमें आशा है कि जनता के साथ साथ विद्यार्थी गण भी इस पुस्तक से पूर्ण लाभ उठायेंगे।

मैं मण्डल के कोषाध्यक्ष ला० रघुवीरसिंह जी सर्राफ को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने पुस्तक को मुद्रित कराने में पर्याप्त परिश्रम किया है।

विनम्रः—

उमरावसिंह जैन

प्रधान मंत्री

जैन मित्र मण्डल, देहली।

प्रस्तावना

यह ग्रन्थ प्रातः स्मरणीय श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य का एक प्रसिद्ध तथा प्रमाणीक ग्रंथ है। इस ग्रन्थ का नाम रत्नकरंड श्रावकाचार है। वास्तव में "यथा नाम तथा गुणः" युक्ति के अनुसार सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय का, तथा गृहस्थाचार (श्रावकाचार) रूपी रत्नों का पिटारा ही है। इस समय श्रावकाचार सम्बन्धी जितने भी ग्रंथ उपलब्ध हैं, उन सब में यह सबसे प्रधान, प्राचीन, उत्तम और सुप्रसिद्ध है। श्री प्रभाचन्द्र आचार्य ने इसी ग्रंथ की अपनी संस्कृत टीका के अन्तिम पद्य में इसे 'अखिल सागर मार्ग को प्रकाशित करने वाला निर्मल सूर्य' लिखा है। यह अक्षरशः सत्य है। जैसे सूर्य का निर्मल प्रकाश अंधकार को दूर कर पथिकों को उनका निश्चित मार्ग सुझा देता है, उसी प्रकार यह ग्रंथ भव्य जीवों के मिथ्यात्व रूप निबिड महातम को दूर करके उनको सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र रत्नत्रय रूप मोक्ष मार्ग को प्रकाश में लाकर मोक्ष-मार्ग पर स्थित कर देता है।

यह ग्रंथ एक चरित्र ग्रंथ है। इसमें मुख्यतया चारित्र का ही निरूपण किया गया है। चारित्र के दो भेद हैं, एक साक्षात् मोक्ष साधक, दूसरा परंपरा मोक्ष साधक। मुनियों का चारित्र साक्षात् मोक्ष साधक है उसे ही सकल चारित्र कहते हैं, ग्रहस्थ का चारित्र परंपरा मोक्ष साधक है, उसे ही विकल चारित्र कहते हैं। इस

शास्त्र में मुख्यता से श्रावकाचार का ही वर्णन किया गया है। प्रथम इष्ट देव को नमस्कार करने के पश्चात् आचार्यवर ने धर्म का स्वरूप बताया है। फिर श्लोक नं० ४ से श्लोक ४१ तक सम्यक् दर्शन का कथन, फिर ४२ से ४६ तक सम्यक ज्ञान का विवेचन, फिर ४७ से १५० तक श्रावकों के चारित्र का निरूपण है।

जहां तक मुझे बोध है, चन्द साधारण बालकोपयोगी पाठशालाओं में पढ़ाए जाने योग्य अन्वयार्थ सहित पुस्तको को छोड़कर स्वर्गीय स्वनाम धन्य पंडितवर श्रीसदासुखमलजी की वृहत अत्यंत बोध गम्य तथा प्रमाणीक भाषा टीका के अतिरिक्त अन्य कोई भाषा टीका इस ग्रंथकी नहीं है। पं० सदासुखमलजी कृत टीका बहुत विस्तीर्ण है और ढूंढारी भाषा में है। पंडितजी ने वह टीका लिखकर भव्य जीवों का बड़ा भारी कल्याण किया है। उसी के आधार पर संक्षेप से तथा आधुनिक सरल और साधारण भाषा में यह टीका लिखने का मैंने प्रयत्न किया है।

श्लोकों के नीचे अर्थ दिया है, फिर भावार्थ लिखा है। मैं समझता हूँ—वह अंग्रेजी पढ़े-लिखे विद्वान तथा स्कूलों और कालिज में पढ़ने वाले विधार्थीगण तथा वह भाई जो संस्कृत नही जानते और जो केवल साधारण हिन्दी जानते हैं, इस ग्रंथ को पढ़कर लाभ उठा सकेंगे। इसी आशय को लेकर इस ग्रथ को इस रूपमे लिखने का साहस मैने किया है।

यद्यपि आचार्य वर ने मुनिधर्म का इस ग्रंथ में कथन नही किया है, तथापि पाठकों को स्थूल रूप से उसका दिग्दर्शन कराने के हेतु मैंने पंच महाव्रत, तीन गुप्ति, पंच समिति, दशलक्षण धर्म, बारह

भावना, बाईस परीषह, पंच प्रकार का चारित्र, बारह तप, साधुओं के षट् आवश्यक, षोडशकारण भावना, रत्नत्रय धर्म का वर्णन भी इसमें लिख दिया है। ताकि वह भी अपनी योग्यता और शक्ति का विचार करके उसको ग्रहण करें, और अपना कर्त्तव्य जान उसका एक देश पालन करें। बारह भावनाओं के अंत में स्वर्गीय पं० जयचंदजी कृत और सोलह कारण भावनाओं के अंत में स्वर्गीय कविवर भूधरदासजी कृत छंद भी उद्धृत कर दिए हैं। जिससे उनका स्वरूप अच्छी तरह दृढ़ हो जावे, और वह अपनी शक्ति तथा योग्यता के अनुसार उसको पालन करने का अभ्यास करें।

मेरी भावना है कि इस ग्रंथ का प्रचार जैनियों के घर २ में हो। इसे पढकर सब भाई बहन अपने कर्त्तव्य को समझें और उसका पालन करें—

"घर घर चर्चा रहे धर्म की दुष्कृत दुःष्कर हो जावे।
ज्ञान चरित उन्नत कर अपना, मनुज जन्मफल सब पावें।"

मनुष्य जन्म पाना महा दुर्लभ है। संयम का पालन, उत्तम धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान इस मनुष्य जन्म में ही हो सकता है। देव, नरक, पशु गति में नहीं हो सकता। इसलिए इस अपूर्व अवसर को पाकर इसे विषय कषायों में नहीं खोना चाहिए। विषय कषाय तो इस जीव के परम शत्रु हैं। मनुष्य जन्म को सफल करना जीव का कर्तव्य है, सफलता तब ही होगी जब सयम को धारण कर आत्मानुभव का अभ्यास किया जावे। यदि शक्ति हो तो सर्व परिग्रह का त्याग कर निर्ग्रंथ साधु हो महाव्रतों का पालन करते हुए आत्मध्यानका साधन करें। नवीन कर्मों का संवर करें, पुराने बंध प्राप्त कर्मों की निर्जरा करें। संवर तथा निर्जरा के कारण चारित्र

और तप का आराधन किया जाता है, अतएव अहिंसादि पंच महाव्रतों को, पंच समितियों को तीन गुप्तियों को, उत्तम क्षमादि दश धर्मों को, बारह भावनाओं को, बाईस परिषह जय को, सामायिकादि चारित्र को तथा अनशनादि बारह प्रकार के तपों को सम्यक्त पूर्वक पालन करना चाहिये। और आत्मध्यान का विशेष अभ्यास करना चाहिए। यदि इस प्रकार मुनि संयम पालन करने की शक्ति अपने में दिखाई न पड़े, तो श्रावक के योग्य दर्शन, व्रत आदि ग्यारह प्रतिमाओं में से किसी को ग्रहण करे, जिस प्रतिमा (दर्जे) के चारित्र पालने की शक्ति तथा योग्यता हो उस प्रतिमा का चारित्र शुद्ध भावों से पालते हुए निश्चय चारित्र की जो स्वरूपाचरण व आत्मानुभव है, उन्नति पर उद्यम शील रहें। अन्य हिताकाँक्षी जो गृहस्थ हैं उनको चाहिये कि वह नित प्रति देव दर्शन करें, जिनवाणी को सुनें, मनन करें तथा धारण करें, उसके अनुसार तत्त्वों पर श्रद्धा लावें देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, सामायिक, दान इन छह कर्मों का नित्य पालन करें, एक समय भी धर्म-भाव बिना वृथा न जाने देवें, सप्तव्यसन और अभक्ष्य का त्याग करें, समस्त लौकिक व्यवहार को धर्म की रक्षा करते हुए न्याय-नीति और सत्य अनुकूल करें। अपने मन, वचन, काय की प्रवृत्ति इस प्रकार की रखें जिससे मन से विषय लम्पटता का मैल निकल जावे। परिणामो मे संसार से वैराग्य हो जावे। आत्मध्यान तथा आत्मोद्धार का ऐसा प्रेम हो जावे जिससे आत्मा का कर्म-मैल कटे और वह अधिकाधिक शुद्धि के मार्ग पर आरूढ़ होता चला जावे। ऐसे ही चारित्र का वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। इस चारित्र के पालने से आत्मा में समताभाव जाग्रत होता है, आनन्द और निर्दोष आत्मिक शाँति का लाभ होता है, संकल्प-विकल्प रूप दाह जन्य कष्ट नहीं होते। आत्म संतोष बढ़ता है। समता से दुर्गति का नाश हो जाता है और मोक्ष के अक्षय, अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। मोक्ष प्राप्ति

ही मनुष्य जन्म की सफलता की परम सीमा है।

मै विद्वान नहीं हूँ। किसी लोभ से या किसी आशा से या किसी भी कषाय के वशीभत हो कर मैने यह प्रयत्न नहीं किया है। केवल जिनवाणी की भक्ति तथा उसके प्रचार के भाव से ही प्रेरित हो कर इसे लिखा गया है। यदि कोई त्रुटियां, अशुद्धि, अज्ञानता तथ प्रमादवश रह गई हों तो विशेषज्ञ मुझे अल्पज्ञ जान क्षमा करें और पाठ को सशोधित करके पढ़ें।

इस टीका के लिखने मे मुझे अपनी पुत्री सुकुमारी विद्यावती जैन "हिंदी प्रभाकर" से बड़ी सहायता मिली है, उसे आशीर्वाद देता हूँ कि वह अपने जीवन को जिनेन्द्र के धर्म का यथार्थ रीति से पालन करते हुए आनन्दमय बनावे।

मै अपने मित्रगण का भी बड़ा आभार मानता हूँ कि जिनकी धर्म प्रेमी तथा उदारमना शैली में रहने के कारण मेरे चित में इस कार्य के सम्पादन करने का भाव जाग्रत हुवा।

जैन मित्र मण्डल देहली के सुयोग्य मत्री लाला तनसुखरायजी जैन, उपमन्त्री श्रीयुत बिशनचन्द जी तथा ला० रघुवीरसिहजी ने भी कई बार इस पुस्तक को लिखने के लिये आग्रह किया। अब जैन मित्र मण्डल ही अपनी ओर से इसे जिन धर्म के प्रचार के हेतु छपा रहा है, इसके लिये मैं जैन मित्र मण्डल का भी आभार मानता हूँ।

रोहतक
चैत्र शु० १३ सं० १९९६
२ अप्रैल १९३९

उग्रसेन जैन (गोहाना निवासी)
M. A. LL. B.
रोहतक

स्वामी समन्तभद्राचार्य

येनाऽशेष-कुनीति वृत्तिः सरितः प्रेक्षावतां शोषिताः
यद्वाचोप्य कलंक नीति-रुचिरा स्तत्त्वार्थ-सार्थद्युतः
स श्री स्वामि समन्तभद्रयति भद भयाद्विभु भानुमान्,
विद्याऽऽनन्द-धन प्रदोऽनघधियां स्याद्वाद मार्गाग्रणी।

अर्थात् जिन्होंने परीक्षावानों के लिये सम्पूर्ण कुनीति और कुवृत्ति रूपी नदियों को सुखा दिया है, जिनके वचन निर्दोष नीति स्याद्वाद न्याय को लिये हुवे होने के कारण मनोहर हैं तथा तत्त्वार्थ समूह के द्योतक हैं वे यतियों के नायक, स्याद्वाद मार्ग के नेता, विभु-समर्थवान और भनुमान सूर्य के समान देदीप्यमान अथवा तेजस्वी—श्रीसमन्तभद्र स्वामी कलुषित-आशय-रहित प्राणियों को सज्जनों अथवा सुधीजनों को विद्या और आनन्द धन के प्रदान करने वाले होंवे—उनके प्रसाद से (प्रसन्नता पूर्वक उन्हें चित्त में धारण करने से) सबों के हृदय में शुद्ध ज्ञान और आनन्द की वर्षा होवे।

स्वामी समंतभद्र एक महान प्रतिभाशाली जैन आचार्य थे, आप का सर्वाङ्ग और सम्पूर्ण जीवन चरित्र तो कोई मिलता नहीं। जो कुछ भी आपके सम्बन्ध मे ज्ञात हुआ है वह कुछ शिलालेखों से तथा दूसरे विद्वानों के ग्रन्थों मे उनके विषय के उल्लेख वाक्यों मे ही हुआ है। समाज के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्रीमान् पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार सरसावा के सतत् प्रयत्न तथा परिश्रम से ही आज हमें स्वामी के जीवन की विशेष २ घटनाएँ मालूम हो रही हैं, इसके लिये हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

स्वामी समंतभद्र के बालकाल अथवा उनके गृहस्थ जीवन का प्रायः कुछ भी पता नहीं चलता और न यह मालूम होता है कि उन के माता

पिता का क्या नाम था, और उनकी जन्म तिथि क्या थी ? ग्रन्थों की प्रशस्ति से इतना अवश्य मालूम हुआ है कि आप क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुवे और आप एक राजपुत्र थे। आप के पिता "फणिमंडलालंकार" उरगपुर के राजा थे। उरगपुर चोल राजाओं की सब से प्राचीन ऐतिहासिक राजधानी थी, पुरानी त्रिचिनापोली भी इसी को कहते हैं। यह नगर गोदावरी के तट पर था, एक बन्दरगाह था और किसी समय बड़ा समृद्धिशाली जनपद था।

बाल्यावस्था में आपका नाम जो माता पितादि द्वारा रखा गया "शान्ति वर्मा" था।

इस बात के जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है कि स्वामी समन्तभद्र ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया और विवाह कराया था कि नहीं। मुख्तार साहब की राय है कि यदि स्वामि समन्तभद्र ने विवाह कराया भी हो तो वे बहुत समय तक गृहस्थाश्रम में नहीं रहे, उन्होंने जल्दी ही, थोड़ी अवस्था में, मुनि दीक्षा धारण की और तभी वे इस असाधारण योग्यता तथा महत्ता को प्राप्त कर सके हैं जो उनकी कृतियों तथा अन्य विद्वानों की कृतियों में उनके विषय के उल्लेख वाक्यों में पाई जाती है। ऐसा मालूम पड़ता है कि स्वामी समन्तभद्रने बाल्यावस्था से ही अपने आपको जैन धर्म और जिनेन्द्र देव की सेवा के लिये अर्पण कर दिया था, उन के प्रति आप को नैसर्गिक प्रेम था। आप का रोम२ उन्हीं के ध्यान और उन्हीं की वार्ता को लिये हुवे था। आपकी धार्मिक परिणति में कृत्रिमता की ज़रा भी गन्ध नहीं थी, आप स्वभाव से ही धर्मात्मा थे और आपने अपने अन्तःकरण की आवाज से प्रेरित होकर ही जिन दीक्षा धारण की थी।

आप की शिक्षा,दीक्षा से पहले, उरेयूर; कांची अथवा मदुरा में जान पड़ती है, ये तीनों ही स्थान उस समय दक्षिण भारत में विद्या के खास केन्द्र थे और इन सब में जैनियों के अच्छे २ मठ भी मौजूद थे जो उस समय बड़े २ विद्यालयों तथा शिक्षालयों का काम देते थे।

आप का दीक्षा स्थान प्रायः कांची था, उसके आस पास का कोई ग्राम जान पड़ता है और कांची ही जो आज कांचीवरम के नाम से प्रसिद्ध हो रही है, आपके धार्मिक उद्योगों की केन्द्र रही मालूम होती है।

पितृ कुल की तरह स्वामी के गुरुकुल का भी प्रायः कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता और न ही यह मालूम होता है कि आपके दीक्षा गुरु का क्या नाम था। हां, इतना जरूर मालूम होता है कि आप मूल संघ के प्रधान आचार्यों में से थे विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के विद्वान् कवि "हस्तिमल' और "अय्यप्पार्य" ने "श्रीमूल सघ व्योमेन्दुः" विशेषण के द्वारा आपको मूल संघरूपी आकाश काचन्द्रमा लिखा है।

एक प्राचीन शिलालेख में स्वामी को "भद्रस्समान्ताद् गुणतो गणीश" विशेषण के द्वारा, गुणों की अपेक्षा गणियों का (संघाधिपति आचार्यों) का ईश्वर सूचित किया है, साथ में ही यह भी जितलाया है कि आप "समन्तात् भद्र" थे आप बाहर से भी और भीतर से भी भद्ररूप थे [भद्र = कल्याण, मंगल शुभ, श्रेष्ठ, मनोज्ञ, क्षेम, प्रसन्न वदन दयावान आदि] या यों कहिये कि आप भद्र परिणामी थे, भद्रवाक थे, भद्राकृति थे, भद्र दर्शन थे, भद्रार्थ थे, भद्रावलोकी, भद्र व्यवहारी थे। इसी कारण विचार होता है कि "समन्तभद्र नाम" स्वामी का गुण प्रत्यय नाम है। और इन्हीं गुणों के कारण यह नाम दीक्षा समय या बाद में किसी समय दिया गया है। इसमें कोई संदेह किसी को नहीं हो सकता कि स्वामी एक बड़ी उच्च कोटि के योगी, त्यागी, तपस्वी और तत्वज्ञानी हो गये हैं। आपकी भद्रमूर्ति तेज पूर्ण दृष्टि और सार गर्भित उक्ति अच्छे २ मदोन्मत्तों को नत मस्तक बनाने में समर्थ थी। आप सदैव ध्यानाध्ययन में मग्न और दूसरों के अज्ञान-भावको दूर करके उन्हें सन्मार्ग की ओर लगाने तथा आत्मोन्नति के पथ पर अग्रसर करने के लिये सावधान रहते थे। जैनधर्म और जैन-सिद्धान्तों के मर्मज्ञ होनेके अतिरिक्त आप तर्क, व्याकरण, छन्द, अलंकार, और काव्य कोषादि ग्रन्थों में पूरी तौर से निष्णात थे। आपकी अलौकिक प्रतिभा ने ता-

स्कालिक ज्ञान और विज्ञान के प्रायः सब ही विषयों पर अपना अधिकार जमा लिया था। यद्यपि आप संस्कृत, प्राकृत, कनड़ी और तामिल आदि कई भाषाओं के पारंगत विद्वान् थे, फिर भी संस्कृत पर आपका विशेष अनुराग और प्रेम था और उसमें आपने एक असाधारण योग्यता प्राप्त की थी। सारॉश यह है कि संस्कृत भाषाके साहित्य पर आपकी अटल छाप थी। दक्षिण भारत मे उच्च कोटि के संस्कृत ज्ञान को प्रोत्तेजन, प्रोत्साहन और प्रसारण देने वालों में आपका शुभ नाम ख़ास तौर स लिया जाता है। आपके समय मे संस्कृत साहित्य के इतिहास मे एक ख़ास युग का आरम्भ होता है, और इसी कारण संस्कृत साहित्य के इतिहास में आपका शुभ नाम अमर है। वास्तव में, आपकी विद्या के आलोक से एक बार समस्त भारतवर्ष आलोकित हो चुका है। देश में जिस समय बौद्धादिकों का प्रबल आतङ्क छाया हुआ था, और लोग उनके नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, क्षणिक वादादि सिद्धान्तों से संत्रस्त थे अथवा एकान्तगर्त मे पड़कर अपना आत्म पतन करने के लिये विवश हो रहे थे उस समय दक्षिण भारत मे उदय होकर आपने जो लोक सेवा की वह बड़े ही महत्व की तथा चिरस्मरणीय है। इसी से प्रभावित होकर श्री शुभचन्द्र आचार्य ने जो आपको "भारत भूषण" लिखा वह सर्वथा युक्ति युक्त है। स्वामी समन्तभद्र यद्यपि बहुत से उत्तमोत्तम गुणो के स्वामी थे फिर भी कवित्व, गमकत्व. वादित्व और वाग्मित्व नाम के चार गुण आप में असाधारण कोटि की योग्यता वाले थे ये चारों ही शक्तियां आप में ख़ास तौर से विकास को प्राप्त हुई थीं और इनके कारण आपका निर्मल यश दूर २ तक चारों ओर फैल गया था। स्वामी के आगे बड़े २ प्रतिपक्षी सिद्धांतों का कुछ भी गौरव नहीं रहा था। और न उनके प्रतिपादक प्रतिवादीजन ऊंचा मुख करके ही सामने खड़े हो सकते थे। उनका वादक्षेत्र संकुचित नहीं था। उन्होंने केवल उसी प्रांत में, जिसमें आपका जन्म हुआ था, अपनी वाद दुन्दुभी नहीं बजाई बल्कि उनकी वाद प्रीति लोगों के अज्ञान भाव को दूर करके उन्हें

सन्मार्ग की ओर लगाने की शुभ भावना और जैन सिद्धान्तों के महत्व को विद्वानों के हृदय पटल पर अङ्कित कर देने की सुरुचि इतनी बढ़ी हुई थी कि उन्होंने सारे भारतवर्ष को अपने वाद का लीलास्थल बनाया हुवा था जैसे कि नीचे लिखे श्लोकों से प्रतीत होता है—

पूर्वं पाटलि पुत्रमध्यनगरेभेरी मयाताडिता ।
पश्चान्मालवसिन्धु ढक्कविषये कांचीपुरेवैदिशे ॥

प्राप्तोऽहंकर हाटकबहुभट विद्योत्कट सकटं ।
वादार्थी विचराम्यह नरथतेशार्दूल विक्रीडत ॥

स्वामी भारत के पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण प्रायः सब ही देशों में, एक अप्रतिद्वंदी सिंह की तरह क्रीडा करते हुए निर्भयता के साथ वाद करते हुए पाटलीपुत्र (पटना) नगर मालव सिन्धु, ढक्क (पंजाब) कांचीपुर और वैदिश (भिलसा) अनेक देशों और नगरों मे घूमे। उनके लिये कठिनाई क्या हो सकती थी। वे चारण ऋषि से युक्त थे। उस समय समस्त भारत में स्वामी का बोलबाला हो रहा था। विद्वान लोग उनकी वाद घोषणाओं और उनके तात्विक भाषणों को चुपके से सुन लेते थे और उन्हें प्राय: कोई विरोध नही करते बनता था। इस असाधारण सफलता का सारा रहस्य उनके अन्तःकरण की शुद्धता, चारित्र की निर्मलता और उनकी वाणी के महत्व मे संनिहित है, अथवा यों कहिये कि यह सब अन्त:करण तथा चारित्र की शुद्धि को लिये हुए उनके वचनों का ही महातम है जो वे दूसरों पर अपना इस प्रकार सिक्का जमा सकते हैं। स्वामी के वचनों मे एक खास विशेषता यह भी थी कि वे स्याद्वाद न्याय की तुला मे तुले हुवे थे और इसलिये वे सर्वथा पक्षपात से रहित होते थे। स्वामी स्वयं परीक्षा प्रधानी थे, वे कदाग्रह को बिल्कुल पसन्द नहीं करते थे वे दूसरों को भी परीक्षा प्रधानी होने का ही उपदेश देते थे। ऐसा करना युक्ति संयुक्त भी था

क्योंकि स्वामी स्याद्वाद विद्या के अद्वितीय अधिपति थे। वे दूसरों को स्याद्वाद मार्ग पर चलने का उपदेश ही नहीं देते थे, बल्कि उन्होंने स्वयम् अपने जीवन को स्याद्वाद के रंग में पूरे तौर से रंग लिया था और वे उस मार्ग के सच्चे अनुयायी थे। वास्तव में स्वामी का स्याद्वाद शासन बड़ा ही प्रभावशाली था। उसके तेज के सामने अवश्य ही कलि-काल का तेज मन्द पड़ गया था, और इसलिये कलिकाल मे स्याद्वाद तीर्थ को प्रभावित करना स्वामी समन्तभद्र का ही खास काम था। महान् महान् जैनाचार्यों ने स्वामी की भूरि २ प्रशंसा की है।

स्वामी के वचनों के सम्बन्ध मे कहा है कि वे भगवान वीर के वचनों की तरह प्रकाशमान है अर्थात भगवान् महावीर के वचनों के समक्ष है और प्रभाव दिक मे भी उन्ही के तुल्य हैं।

स्वामी समन्तभद्र एक महान् स्तुति कार भी थे। आपने अपने स्तुति ग्रन्थों द्वारा विद्या का खास तौर से उद्धार तथा संस्कार किया हैं। स्तुति के द्वारा स्वामी अपनी अर्हद्भक्ति का अच्छा महत्व प्रदर्शित किया है। स्वामी की अर्हद्भक्ति बहुत बढ़ी चढ़ी थी। दर्शन विशुद्धि को लिए हुए था। उसमे अन्धश्रद्धा अर्थात अन्ध विश्वास का कोई स्थान नहीं था गुणज्ञता, गुण प्रीति और हृदय की सरलता ही उसका एक आधार था। दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओं से आपका आत्माभावित था इसी कारण आपके भावी तीर्थंकर होनेका उल्लेख भी कितनेही ग्रन्थोंमे पाया जाता है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि स्वामीके हृदय मे विश्व प्रेम किस हद तक जागृत था और वह किस प्रकार विश्व भर के प्राणीमात्र का उद्धार करने सदा सावधान रहते थे। वस्तु तत्व की सम्यक अनुभूति के साथ अपनी बढ़ी चढ़ी योग परिणति के द्वारा ही आपने उस महत निःसीम तथा सर्वातिशायी पुण्य को संचय किया मालूम होता है जिसके कारण कि वे इसी भारतवर्ष में होने वाले भावी तीर्थंकर कहे गये हैं।

स्वामीजी ने मुनिपद में गहन तपश्चरण और प्रटूट ज्ञान संचय

करने में अपना समय व्यतीत किया था। अपनी मुनिचर्या के अनुसार अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नाम के पंच महाव्रतों का यथेष्ट रीति से पालन करते थे। ईर्या भाषा एषणा आदान निक्षेपण तथा प्रतिष्ठापन इन पंच समितियों के परिपालन द्वारा उन पंच महाव्रतों को निरन्तर पुष्ट बनाते थे। पांचों इन्द्रियों के निग्रह में सदैव तत्पर, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति इन तीनों गुप्तियों के पालने में धीर और सामायिकादि षट् आवश्यक क्रियाओं के अनुष्ठान में सदा सावधान रहते थे। विषय कषाय आदि शत्रुओं को पास नहीं फटकने देते थे। बाईस परिषह को पूर्णतया सहन करने वाले थे। शरीर से बड़े ही निस्पृह और निर्ममत्व रहते थे। उन्हें भोगों से जरा भी रुचि अथवा प्रीति नहीं थी। शरीर से यथाशक्ति अनशनादि घोर बाह्य तपश्चरणों का अनुष्ठान किया करते थे। इसके अतिरिक्त नित्य ही आपका बहुतसा समय सामयिक स्तुति पाठ प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, समाधि, भावना धर्मोपदेश ग्रंथ रचना और परहित प्रतिपादनादि कितने ही धर्म कार्यों में खर्च होता था। आप अपने समय को ज़रा भी धर्म साधना रहित व्यर्थ नहीं जाने देते थे।

इस प्रकार बड़े ही प्रेम तथा आनन्द के साथ मुनिधर्म का पालन करते हुवे जब स्वामी "मणुवहकल्ली" ग्राम में विराजमान थे तो एकाएक पूर्व संचित असाता वेदनीय कर्मके तीव्रोदय से आपके शरीर में 'भस्मक' नाम का एक महारोग उत्पन्न होगया, इससे स्वामीजी को बड़ी वेदना होती थी, परन्तु ऐसा होते हुवे भी वह किसी से भोजन की याचना करने, दोबारा भोजन करने अथवा रोगोपशान्ति के लिये किसी को अपने वास्ते अच्छे स्वादिष्ट तथा गरिष्ट भोजन तय्यार करनेकी प्रेरणा नहीं करते थे। ऐसा करना उनके मुनि धर्म के सर्वथा विरुद्ध था। इस लिये ऐसी दशा में स्वामीजी वस्तुस्थिति का विचार करते हुवे अनेक उत्तमोत्तम भावनाओं का चिन्तवन करते थे और अनेक प्रकार से अपने आत्म को सबोधन करते थे। यह अनुमान किया जा सकता है कि

क्षुधाराक्षसी जब उग्र तथा निर्दय रूप धारण कर लेती है तो उस समय कितना कष्ट और कैसी महावेदना इस जीवको होती है। अच्छे २ धीरवीरोंका धैर्य छूट जाता है, श्रद्धान भ्रष्ट हो जाता है और ज्ञान गुण डगमगा जाता है, परन्तु स्वामी समन्तभद्र उनमें से नहीं थे, वे महामना थे, महात्मा थे, आत्म-देहान्तर ज्ञानी थे, संपत्ति-विपत्ति में समचित्त थे, निर्मल सम्यक्दर्शन के धारक थे और उनका ज्ञान अदुःख भावित नहीं था जो दुःखों के आने पर क्षीण हो जावे। स्वामीजी तो घोर२ तपश्चरणों द्वारा कष्ट सहन करने के अभ्यासी थे, इसलिये इस महावेदनाके अवसर पर वे ज़रा भी खेद खिन्न, विचलित तथा धैर्यच्युत नहीं हुवे। रोग उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया, और ऐसा असह्य होगया कि स्वामीजी की दैनिक चर्या में भी बाधा पड़ने लगी इसलिये स्वामी ने विचारा 'कि अब मुझे "सल्लेखना" व्रत मांड लेना चाहिये और मृत्यु की प्रतीक्षा में बैठकर शान्ति के साथ इस विनश्वर देह का धर्मार्थ त्याग कर देना चाहिये" अतएव इसी विचार को लेकर अपने पूज्यवर गुरुदेव की सेवा में पहुँचे, और अपने रोग का कुल वृत्तान्त कह सुनाया। और नम्रता पूर्वक सल्लेखना धारण करने की आज्ञा के लिये प्रार्थना की—इस पर गुरुदेव कुछ देर तो मौन रहे परन्तु उन्होंने योग बल से यह जान लिया कि समन्तभद्र अल्पायु नहीं है, उसके द्वारा धर्म तथा शासन के उद्धार का महान कार्य होने को है। इस दृष्टि से वह सल्लेखना का पात्र नहीं ऐसा सोच गुरुवर ने समन्तभद्र को सल्लेखना धारण करने की आज्ञा नहीं दी और आदेश किया कि तुम जहाँ पर और जिस वेष में रहकर रोगोपशमन के योग्य तृप्ति पर्यन्त भोजन प्राप्त कर सको वहीं पर चले जाओ और उस वेष को धारण करलो, रोग के शान्त हो जाने पर फिर से प्रायश्चित पूर्वक मुनि दीक्षाधारण कर लेना और अपने कार्य को संभाल लेना; तुम्हारी श्रद्धा और गुणज्ञता पर मुझे पूर्ण विश्वास है।"

समन्तभद्रजी ने गुरु आज्ञा को शिरोधार्य किया। बड़े ऊहापोह

के पश्चात आपने अपने दिगम्बर मुनिवेष का आदर के साथ त्याग किया और उदासीन भाव से अपने शरीर कोपवित्र भस्म से आच्छादित करना आरम्भ कर दिया। उस समय का दृश्य बड़ा ही करुणाजनक था। देह मे भस्म को मलते हुए आपकी आंखे कुछ आर्द्र हो आई थी, जो आँखें व्याधि की तीव्र वेदना से कभी आर्द्र नही हुई थी, उनका इस समय कुछ आर्द्र हो जाना साधारण बात न थी। संघ के मुनिजनों का हृदय भी आपको देख कर भर आया था और सभी भावी की कलंघ्य शक्ति तथा कर्म के दुर्विपाक का ही चिन्तवन कर रहे थे। स्वामी जब अपने देह पर भस्म रमा चुके तो उनको वहिरंग मे भस्मि और अन्तरंग में सम्यक् दर्शनादि निर्मल गुणों के दिव्य प्रकाश को देख कर ऐसा मालूम पड़ता था कि एक महा कान्तिमान रत्न कर्दम से लिप्त हो रहा है और वह कर्दम उस रत्न मे प्रविष्ट नहीं हो सकने से उसका कुछ भी बिगाड़ नही सकता।

इस प्रकार संघ को अभिवादन करके श्री समन्तभद्र एक वीर योद्धा की तरह कार्य सिद्धि के लिये मणुवकहल्ली से चल दिये। चलते२ कांची नगर मे शिवकोटि राजा के "भीमलिंग" नामक शिवालय मे पहुँचे—राजा को आर्शीर्वाद दिया और कहने लगे—"हे राजन्! मैं आप के इस नैवेद्य को शिवार्पण करूंगा।" राजा बड़ा प्रसन्न हुवा। सवा मन का प्रसाद शिवार्पण के लिये आया। उस भोजन को ले समन्तभद्र अकेले मन्दिर के अन्दर आसन जमाकर बैठ गये, और किवाड़ बन्द करके सब को चले जाने को कहा। सानन्द भोजन को खा कर जठराग्नि को शान्त किया। उपरान्त दरवाजा खोल दिया। सम्पूर्ण भोजन की समाप्ति देख कर राजा को बड़ा ही आश्चर्य हुवा। वह बड़ी भक्ति से और भी उत्तम २ भोजन शिवार्पण के निमित्त भेजने लगा, परन्तु अब साधुजी की जठराग्नि कुछ शान्त होने लगी। एक दिन ऐसा हुआ कि चौथाई भोजन बच गया। और इसी तरह अब भोजन उत्तरोत्तर परिमाण में बचने लगा। समंतभद्र ने साधारणतया इस बचे हुवे

भोजन को देव प्रसाद बतलाया, परन्तु राजा को उस से सन्तोष नहीं हुवा। अगले ही दिन राजा ने शिवालय को अपनी सेना से घिरवा कर दरवाजे के खोल डालने की आज्ञा की दरवाज़ा खोलने की आवाज़ सुनकर समनभद्र जी ने निश्चय कर लिया कि अब कोई महान् उपसर्ग अवश्य ही आनेवाला है। उपसर्ग की निवृत्ति पर्यंत समस्त आहार पान का त्याग करके तथा शरीर से सर्वथा ममत्व छोड कर, आपने बडी ही भक्ति के साथ एकाग्र चित्त से श्री वृषभादि चतुर्विन्शति तीर्थकरों की स्तुति (स्वयम्भूस्तोत्र) करना आरंभ कर दिया। स्तुति करते करते जब आपने आठवे तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभु भगवान् की स्तुति—

"चंद्रप्रभ चद्र मरीचिगौर चद्र द्वितीय जगत विकान्त।
वदेऽभिवद्य महता मृपीन्द्र जिन जितस्यात कषाय बधम"

बडे भक्ति भाव के साथ पढ़कर भीम लिङ्ग की ओर दृष्टि की, तो उन्हें उस स्थान पर किसी दिव्य शक्ति के प्रताप से, श्रीचन्द्र लक्षण युक्त अर्हंत भगवान का एक जाज्वल्यमान सुवर्णमय विशाल बिम्ब, विभूति सहित प्रगट होता हुआ दिखाई दिया, यह देख स्वामीजी ने दरवाज़ा खोल दिया और 'आप' अन्य शेष तीर्थंकरों की स्तुति में लौलीन होगये। दरवाजा खुलते ही इस महात्म्य को देख कर शिव कोटि राजा बहुत ही आश्चर्य चकित हुआ और अपने छोटे भाई शिवायन सहित, योगीराज श्री समंतभद्र को उद्दड नमस्कार करता हुआ उनके चरणों में गिर पडा। स्वामीजी ने अपनी स्तुति पूर्ण होने के पश्चात्, दोनों को आशीर्वाद दिया। स्वामीजी के मुखारविन्द से धर्म का विस्तृत स्वरूप सुन कर राजा संसार-देह भोगों से विरक्त हो गया और उसने अपने पुत्र 'श्रीकंठ" को राज्य देकर, "शिवासन" सहित जिन दीक्षा ग्रहण की और भी कितने ही लोगों की श्रद्धा इस माहात्म्य से पलट गई और वे अणुव्रती श्रावक हो गये।

इस प्रकार श्रीसमंतभद्र स्वामी थोड़े ही दिनों में अपने "भस्मक" रोग से निवृत हो गये। उनका आपत्काल समाप्त हुवा और देह के प्रकृतिस्थ हो जाने पर उन्होंने फिर से जिन मुनि दीक्षा धारण की और पहले की तरह अपने उद्देश्य की पूर्ति में लीन हो गये।

स्वामी समंतभद्राचार्य ने कितने ही महान् ग्रंथों का निर्माण किया है, उनके ग्रन्थों का प्रणयन किसी रागद्वेष के वशीभूत होकर नहीं हुवा है, वह आचार्य महोदय की उदारता तथा प्रेक्षापूर्व कारिता को लिये हुये हैं और उसमें उनकी श्रद्धा तथा गुणज्ञता दोनों ही बातें पाई जाती हैं। उनके ग्रन्थों का उद्देश्य महान् है लोक हित को लिये हुवे है उनका प्रायः कोई भी विशेष कथन गुण दोषों की अच्छी जाँच के बिना निर्दिष्ट हुवा नहीं जान पड़ता। स्वामी जी की रचनायें तो अनेक थीं किंतु इस समय केवल नीचे लिखे का ही पता चला है:—

१ आप्तमीमांसा (देवागम), २ युक्त्यानुशासन, ३ स्वयंभूस्तोत्र, ४ जिनस्तुतिशतक, ५ रत्नकरंडकउपासकाध्ययन (रत्नकरंडश्रावकाचार) ६ जीवसिद्धि ७ तत्वानुशासन ८ प्राकृत व्याकरण ९ प्रमाण पदार्थ १० कर्मप्राभृत टीका, ११ गन्धहस्ति महा भाष्य यह भाष्य श्रीतत्वार्थाधिगम सूत्र पर लिखा हुवा महा भाष्य था, इसका केवल नाम नाम ही मालूम पड़ता है ग्रंथ उपलब्ध नहीं है।

स्वामीजी की इन रचनाओं के कारण आज आप का नाम संसार साहित्यमें अमर है और जब तक यह साहित्य बना रहेगा, आपका नाम अमर रहेगा।

जिस प्रकार स्वामी समन्ताभद्रचार्य की जन्मतिथि का कोई ठीक पता नहीं वैसे ही उनके स्वर्गवास होने की तिथि भी अनिश्चित ही है। न ही यह पता चलता कि स्वामी जी ने किस स्थान से समाधिमरण द्वारा स्वर्ग गमन किया। किन्हीं इतिहासज्ञोंका मत है कि स्वामी समन्तभद्र जी का अस्तित्वकाल छठी शताब्दी है और कुछ विद्वानों ने आपको दूसरी शताब्दीका ही विद्वान् स्वीकार किया है। पं० जुगलकिशोर जी

साहिब मुख्तार का जिन्होंने कि स्वामी जी की बृहत् जीवनी लिखी है और जिसके आधार पर यह संक्षेप विवरण मैंने लिखा है मत है कि अभी विशेष खोजके बिना स्वामी समन्तभद्र के यथार्थ समय के सम्बन्ध में कोई जँची तुली बात नहीं कही जा सकती, फिर भी इतना तो निश्चित है कि समन्तभद्र विक्रम की पांचवीं शताब्दी से पीछे अथवा ई० सन् ४५० के बाद नहीं हुवे और न वे विक्रम की पहली शताब्दी से पहले के ही विद्वान प्रतीत होते हैं। पहली से पाँचवीं तक पाँच शताब्दियों के मध्यवर्ती किसी समय में ही हुवे हैं।

स्वामी जी चाहे जिस समय में भी क्यों न हुवे हों, उनके गुणों और उपकारों को देखते हुवे कोई भी विद्वान उनकी प्रशंसा किये बिना तथा उन के शुभ नाम के सामने नतमस्तक हुवे बिना नहीं रह सकता मुख्तार सा० के शब्दों में कहना चाहिये कि 'निस्संदेह समन्तभद्र एक बहुत बड़े महात्मा थे, समर्थ विद्वान थे प्रभावशाली आचार्य थे, महा मुनिराज थे, स्याद्वादविद्या के नायक थे, एकान्त पक्ष के निर्मूलक थे अबाधित शक्ति थे सातिशय योगी थे सातिशयवादी थे, सातिशय वाग्मी थे श्रेष्ठ कवि थे उत्तम गायक थे, सद्गुणों की मूर्ति थे, प्रशान्त थे, गम्भीर थे भद्र प्रयोजन और सदुद्देश्यके धारक थे, हित मित भाषी थे लोक हितैषी थे विश्वप्रेमी थे, मुनिजनों द्वारा वंद्य थे बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानों से स्तुत्य थे और जैन शासन के अनुपम द्योतक थे, प्रभावक थे और प्रसारक थे।

हमें आशा है कि इस संक्षिप्त जीवनी को पढ़कर हमारे पाठक स्वयं अंदाजा लगा लेवेंगे कि स्वामी जी किस टाइप के विद्वान थे, कैसी उत्तम परिणति को लिये हुवे थे, कैसे महान् योगी अथवा कैसे बड़े महात्मा थे, और उनके द्वारा देश धर्म तथा समाज का कितना उपकार हुवा है। और स्वामी जी के पवित्र आदर्श को अपने सामने रखकर अपने जीवन, अपने सदुद्देश्यों तथा प्रयत्नों को सफल बनाने का प्रयत्न करेंगे। आओ भावना करें—

" स्वामी समन्तभद्रो मेऽहर्निशं मानसेऽनघः।
तिष्ठताज्जिनराजोद्यच्छासनाम्बुधि चन्द्रमा "

वे स्वामी समंतभद्र मेरे हृदय में रात दिन तिष्ठो जो जिनराज के ऊंचे उठते हुवे शासन समुद्र को बढाने के लिये चंद्रमा है

उग्रसेन जैन
M A LL. B.
रोहतक

श्रीवीतरागायनमः

श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य कृत संस्कृत

"रत्नकरंड श्रावकाचार" ग्रन्थ का हिन्दी भाषानुवाद

अर्थात्

श्रीयुत् उग्रसेन एम.ए.एलएल.बी. वकील रोहतक द्वारा संपादित

भाषा रत्नकरंड श्रावकाचार

नमः श्री वर्द्धमानाय, निर्द्धूत कलिलात्मने ।
सालोकानां त्रिलोकानां, यद्विद्यादर्पणायते ॥१॥

अर्थ—आदि में इस श्लोक द्वारा ग्रंथ के कर्ता स्याद्वाद विद्या के परमेश्वर परम निर्ग्रंथ वीतरागी श्री-समन्तभद्राचार्य, ग्रन्थ की निर्विघ्नता पूर्वक समाप्ति के हेतु अपने इष्ट देव श्री वर्द्धमान भगवान् अन्तिम तीर्थंकर को नमस्कार करते हैं। भगवान् श्रीवर्द्धमान क्यों कहलाये ? भगवान् का नाम "श्रीवर्द्धमान" साक्षात् यथार्थ है—श्री कहिये लक्ष्मी, इससे जो वृद्धि को प्राप्त होवे सो वर्द्धमान कहलाता है—भगवान् अन्तरङ्ग की अनंत दर्शन, अनन्त

ज्ञान, अनन्त वीर्य तथा अनन्त सुख रूप परम स्वाधीन और अविनाशी लक्ष्मी और बहिरंग में शत इन्द्रादिक देवों कर वन्दनीक समवसरणादिक लक्ष्मी के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुवे—सो श्रीवर्द्धमान कहलाये। भगवान् का केवल-ज्ञानादि मान कहिये प्रमाण, समस्त प्रकारसे परम अतिशय को प्राप्त हुवा, इस कारण से भी भगवान् श्री वर्द्धमान कहलाये।

भावार्थ—जिस प्रभु के केवलज्ञान रूप दर्पण में अलोकाकाश सहित जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल षट द्रव्यों का समुदाय रूप समस्त लोकाकाश अपनी भूत, भविष्यत, वर्तमान सकल अनन्तानन्त पर्यायों सहित प्रतिबिंबित हो रहे हैं अर्थात जो प्रभु समस्त लोकालोक के साक्षात जानने वाले हैं और जिनका आत्मा चार घातिया कर्मरूपी मल से रहित हो गया है। जो अनन्त चतुष्टय रूप अन्तरङ्ग लक्ष्मी तथा शत इन्द्रादिक देवों द्वारा पूजनीक समवसरणादि बाह्य लक्ष्मी से मडित है, ऐसे श्री महावीर भगवान परम देवाधिदेव अन्तिम तीर्थंकर को नमस्कार होवे।

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निवर्हणम्।
संसार दुःखतः सत्त्वान्यो धरत्युत्तमे सुखे॥२॥

अर्थ—इस श्लोक द्वारा श्रीआचार्य वर धर्मका स्वरूप कहने की प्रतिज्ञा करते हैं। मैं (समन्तभद्र इस ग्रंथका कर्ता)

उस धर्म का उपदेश करता हूँ जो जीवों को पंच परिवर्तन रूप संसार के दुःखों से छुड़ाकर मोक्ष के अविकार, अविनाशी तथा निर्बाधा, उत्तम सुख में धारण करता है (धरता है); जो समीचीन है, अर्थात् जो उत्कृष्ट है, और जिसमें वादी प्रतिवादी द्वारा तथा प्रत्यक्ष अनुमानादिक द्वारा कोई किसी प्रकार की बाधा आ नहीं सकती और जो कर्म बन्धनों को नष्ट करने वाला है।

भावार्थ—संसार में "धर्म धर्म" सब कहते हैं परन्तु धर्म के वास्तविक मर्म को जानने वाले और कहने वाले विरले ही हुवा करते हैं। धर्म शब्द का अर्थ है कि जो चतुर्गति में परिभ्रमण रूप दुःख से आत्मा को छुड़ाय उत्तम, आत्मीक, अविनाशी अतीन्द्रिय मोक्ष सुखमें धारण करे (धर देवे), सो धर्म है। यह धर्म किसी स्थान पर बिकता नहीं जो मोल ले आवे—किसी की खुशामद करने से, किसी की चापलूसी करने से मिलता नहीं—किसी के बख्शिश करने से आता नहीं, किसी को सेवा उपासना द्वारा राजी करके लिया जा सकता नहीं। यह धर्म किसी मंदिर, शिवालय, गिरजा, मसजिद में, कहीं पर्वत, जल अग्नि, देव मूर्ति, तीर्थादिकों में नहीं रखा है जो वहाँ जाकर कोई उठा लावे। केवल उपवास, व्रत, कायक्लेश आदि तपश्चरण द्वारा शरीरादि को क्षीण करने से भी नहीं मिलता, भगवान के मन्दिर में, चैत्यालय में चँवर छत्रादिक उपकरणों के देने—तथा बड़े बड़े मंडल पूजन विधान आदि कर देने से, ग्रहस्थ त्याग, बन में, स्मशान में,

पर्वतादि की गुफाओं तथा खण्डहरों मे निवास करने तथा परमेश्वर के नाम रटने मात्र से इस समीचीन धर्म की प्राप्ति नहीं होती। धर्म तो आत्मा का निजस्वभाव है। जो परपदार्थों मे आत्मबुद्धि को छोड, अपने ज्ञाता दृष्टा रूप स्वभाव का श्रद्धान, अनुभव तथा निज ज्ञायक स्वभाव मे ही प्रवर्तन रूप जो आचरण सो धर्म है। जिस समय आत्मा स्वयम् उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्मरूप परिणमन करता है, तथा जिस समय आत्मा की निज परणति रत्नत्रय रूप होती है, तथा परम दया रूप होती है, उस समय आत्मा स्वयम् धर्म रूप होता है। परद्रव्य क्षेत्र, कालादिक तो केवल निमित मात्र है। जिस समय यह आत्मा रागादिरूप विभाव परणति को छोड़, आत्मस्थ तथा वीतराग रूप हुवा देखता है, तो मन्दिर, प्रतिमा, तीर्थ, दान, तप, जप आदि समस्त ही स्थान तथा क्रियाएँ धर्मरूप होती हैं परन्तु यदि निज आत्मा ही निजस्वभावमे स्थित न होकर इधर उधर डोलता फिरता है, और अपना आत्मा दशलक्षण धर्मरूप, रत्नत्रय धर्म रूप, वीतराग-रूप तथा सम्यक्ज्ञान रूप नही होता है तो तीर्थ मदिरादि स्थानों मे और पूजन, जप, तप आदि क्रियाओं मे कही भी धर्म नही होता। शुभ राग पुण्य बंध का कारण है, और अशुभ राग द्वेष, मोह आदि पाप बन्धन के कारण है। परन्तु जहाँ सम्यक् श्रद्धान ज्ञान स्वरूपाचरणरूप धर्म है, वहाँ बंध का अभाव होता है, और बंध का अभाव होने पर ही उत्तम सुख होता है।

सद्दृष्टिज्ञान वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।

यदीय प्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥३॥

अर्थ—धर्म के ईश्वर श्री तीर्थंकर परमदेव सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र को धर्म कहते हैं; और इनके प्रतिकूल अर्थात् उल्टे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, व मिथ्या चारित्र संसार परिभ्रमण की परिपाटी होते हैं।

भावार्थ—यहाँ आचार्य वर ने बड़े जोर से बताया है कि अपने आपका तथा पर द्रव्यों का सत्यार्थ श्रद्धान, ज्ञान आचरण तो संसार परिभ्रमण से छुड़ाकर उत्तम मोक्ष सुख में धारण करने वाला धर्म है, और आपका तथा अन्य पदार्थों का असत्यार्थ श्रद्धान, ज्ञान आचरण अनंत दुख रूप भवसागर में डुबाने वाला है। ऐसा कथन श्री वीतराग भगवन्त का है, कोई हम अपनी ओर से अपनी रुचि विरचित नहीं कहरहे है।

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागम तपो भृताम्।
त्रिमूढा पोढमष्टाङ्गं सम्यक्दर्शनमस्मयम् ॥४॥

अर्थ—सत्यार्थ अथवा मोक्षके कारणभूत आप्त(देव), आगम (शास्त्र), तपोभृत (गुरु) का, निःशंकितादि अष्ट अंग सहित, लोक मूढ़ता आदि तीन मूढ़ता रहित तथा जातिकुल आदिके अष्ट प्रकार मद रहित श्रद्धान करना सम्यक् दर्शन है। अर्थात् सच्चे देव, सच्चे शास्त्र तथा सच्चे गुरु का श्रद्धान करना सम्यक् दर्शन कहलाता है। यहाँ कोई पूछे कि आगममें तो सप्ततत्व, नव पदार्थों के श्रद्धान को सम्यक

दर्शन कहा गया है, यहाँ वह न बता कर ऐसा क्यों कहा ?

समाधान—निर्दोष, बाधा रहित आगम के उपदेश बिना, सप्त तत्वों का श्रद्धान कैसे हो सकता है ? और निर्दोष आप्त (देव) बिना सत्यार्थ आगम कैसे प्रगट हो सकता है ? इस लिये तत्वार्थ के श्रद्धान का भी मूल कारण सत्यार्थ आप्त ही है । इसी लिये सत्यार्थ आप्त आगम तथा तपोभृत का श्रद्धान सम्यक् दर्शन है ।

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥५॥

अर्थ—नियम से रागद्वेषादि अष्टादश दोष रहित वीतराग, भूत भविष्यत् वर्तमान का ज्ञाता सर्वज्ञ, और परमहितोपदेशक पणाकर आगम का ईश ही, आप्त अर्थात् सत्यार्थ देव होता है । निश्चय से और किसी प्रकार आप्त-पना हो नहीं सकता ।

भावार्थ—सच्चा देव वही है जो वीतराग, सर्वज्ञ और हितो-पदेशी हो । इन तीनों गुणों के बिना आप्तपना हो नहीं सकता । जो देव आप ही दोष सयुक्त है, वह दूसरे जीवों को कैसे निराकुल, सुखी और निर्दोष बना सकता है ।' जो स्वयम् क्षुधा, तृषा, काम क्रोध, आदि सहित है, उसमें ईश्वरपणा कहाँ से हो सकता है ? जो भय सहित है शस्त्रादिक को ग्रहण करता है, जिसके द्वेष, चिन्ता खेदादिक निरन्तर बने रहते है, जो कामी रागी होने के कारण निरन्तर पराधीन रहता है, भला उसके निराकुलता तथा स्वाधी-

नता कैसे संभव हो सकती है ? जहां निराकुलता तथा स्वाधीनता नहीं वहां सत्यार्थ वक्तापणा नहीं। जिसके जन्म मरण रोग लगा हुवा है, जिसके संसार भ्रमण का अभाव नहीं हुवा है, जो जरा आदि ग्रसित हो सकता है, उसके सुख शान्ति कहां ? इसलिये जो निर्दोष होता है सत्यार्थ रूपसे उसी का नाम आप्त है। जो रागी द्वेषी होता है वह अपने पद के रागद्वेष को पुष्ट करने का ही उपदेश दियाकरता है, इसलिये यथार्थवक्ता पणा तो वीतराग के ही संभव हो सकता है।

जो सर्वज्ञ नहीं उसके यथार्थ वक्तापणा नहीं। क्योंकि इन्द्रिय जनितज्ञान तो सर्व त्रिकालवर्ती समस्तद्रव्यों की अनन्तानन्त परणति को युगपत जानने को समर्थ नहीं। इन्द्रिय जनित ज्ञान क्रमवर्त्ती स्थल पुद्‌गलकी अनेक समयमें भई जो एक स्थूल पर्याय को ही जानने वाला है। फिर भला अल्पज्ञानी का उपदेश सत्यार्थ कैसे हो सकता है। सर्वज्ञ का ही उपदेश सत्यार्थ होता है, इस लिये सर्वज्ञ के ही आप्तपणा संभव है।

जो बिना भेदभाव के जगत के प्राणीमात्र के हित और कल्याण के लिये यथार्थ उपदेश का देनेवाला है वही हितोपदेशी है।

इसलिये जिस किसी देव में भी वीतरागता, सर्वज्ञता तथा हितोपदेशीपणा, यह तीन लक्षण पाये जावें वही सच्चा आप्त है।

यहां कोई तर्क करे कि आप्त का लक्षण इस प्रकार तीन रूप क्यों कहा ? केवल एक "निर्दोष" कहदेने में ही समस्त गुण संयुक्त लक्षण बन जाता है।

समाधान—निर्दोषपणा तो आकाश धर्म. अधर्म पुद्‌गल

कालादिक के भी है, इनके भी अचेतन होने के कारण क्षुधा, तृषा, राग द्वेषादिक नहीं है, इस प्रकार निर्दोषपणे से इनमे आप्तपने का प्रसंग आता। इसलिये जो निर्दोष होवे और सर्वज्ञ होवे सो आप्त है। अब यदि निर्दोष सर्वज्ञ केवल दो ही गुण आप्त के कह देवे, तो सिद्ध भगवान के आप्तपणे का प्रसग आता है, इस दशा मे सत्यार्थ उपदेश का अभाव होता है, क्योंकि सिद्ध भगवान तो निकल परमात्मा है, उनके उपदेश सभव नहीं, इसलिये वीतरागता, सर्वज्ञता, परमहितोपदेशकता इन तीन गुणों संयुक्त, अनन्त चतुष्टय के धारक देवाधिदेव परम औदारिक शरीर मे विराजमान भगवान सर्वज्ञ वीतराग अरहन्त ही के आप्तपणा सभव है, ऐसा निश्चय श्रद्धान करना योग्य है।

क्षुत्पिपासा जरातङ्क जन्मान्तक भयस्मयाः ।
न रागद्वेष मोहाश्च यस्याप्तः सप्रकीर्त्यते ॥६॥

अर्थ—जिस देव के क्षुधा, तृषा, बुढ़ापा, आतंक (शारीरिक कष्ट)जन्म, मृत्यु, भय, स्मय (गर्व, मद), राग, द्वेष, मोह, चिंता, रति, निद्रा, विस्मय (आश्चर्य), विषाद, स्वेद (पसीना), खेद (व्याकुलता), यह अठारह दोष नहीं हैं, वही वीतराग आप्त (देव) कहा जाता है।

परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमलःकृती ।
सर्वज्ञोऽनादि मध्यान्तःसार्वःशास्तोप लाल्यते ॥

अर्थ—जिसके परमेष्ठीः, परंज्योतिः, विरागः, विमलः,

कर्ता, सर्वज्ञः, अनादिमध्यान्तः, सार्वः ये सार्थक नाम हैं वही शास्ता कहलाता है। शास्ता—'शास्तीतिशास्ता' इस निरुक्ति का अर्थ यह है। निकट भव्य, शिष्यों के हितरूप जो शास्ति (शिक्षा) देवे, वही शास्ता है॥

४ परमेष्ठी— परमइष्ट जो इन्द्रादिक द्वारा वंद्य तथा पूज्य परमात्म स्वरूप मे तिष्ठै, परमेष्ठी कहलाता है।

परमेष्ठी अंतरंग मे तो दर्शनावरणी आदि चार घातिया कर्मों के नाश होने पर प्रगट होनेवाले, अनन्त चतुष्टय रूप, निर्विकार, अविनाशी परमात्मस्वरूप मे तिष्ठै है, और बहिरंग मे इन्द्रादि असंख्यात् देवों द्वारा वंद्य समवसरण मे तीन कटनी के ऊपर दिव्य सिंहासन पर चार अंगुल अधर (अंतरीक्ष) चौसठ चमर संयुक्त विराजमान, छत्र त्रयादिक दिव्य संपदा से विभूषित, इन्द्रादि देवो तथा मनुष्यादि निकट भव्य जीवों को धर्मोपदेशरूप अमृत का पान कराके उनके जन्म जरा मरण रूप संताप को दूर करते हुवे तिष्ठै हैं। इसलिये जिस परमइष्ट के अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग की उपर्युक्त विभूति होती है वही परमेष्ठी कहलाता है। ऐसी विभूति परमौदारिक शरीर के धारी, सर्वज्ञ, वीतराग हितोपदेशी, जीवन्मुक्त अरहन्त भगवान के ही होती है, वेही सच्चे आप्त परमेष्ठी है।

जो स्वयं कर्म बन्धनों मे पड़े हुवे है, इन्द्रियो के विषयों के दास बने हुवे है, स्त्री लंपटी है, संसार की विनाशीक राज्यसंपदा आदिक की चाह दाह जिन्हे रात्रि दिवस तप्तायमान रखती है,

ऐसे विषय लंपटियों के परमेष्ठीपणा कैसे हो सकता है ?

२-परंज्योतिः—आवरण रहित, परम शुद्ध, अतीन्द्रिय अनन्त ज्ञानरूपी ज्योति (केवलज्ञान), जिसमे कि लोक अलोकवर्त्ती समस्त पदार्थ अपने भूत, भविष्यत, वर्तमान काल सम्बन्धी अनन्त गुण पर्यायों सहित युगपत प्रतिबिंबित हो रहे है। ऐसे केवल ज्ञानरूपी ज्योति वाला ही परंज्योतिस्वरूप आप्त है।

३-विरागः—मोहनीय कर्म के नाश हो जाने से समस्त पर पदार्थों मे रागद्वेष का अभाव हो गया—कोई इच्छा किसी प्रकार की रही नहीं, परम वीतरागता प्रकट हो गई—वस्तु के सत्यार्थ स्वरूप को जानने वाले हो गये, किस मे राग करें ? किस से द्वेष करे ? ऐसे राग रहित वीतराग आप्त अरहन्त ही हैं। कामी, रागी द्वेषी विषयासक्त, मोही व्यक्तियों के वीतरागता कैसे संभव हो सकती है ?

४-विमलः—जिन्होंने काम, क्रोध, मान, माया, लोभादि रूप भाव मल, ज्ञानावर्णादिरूप कर्म मल का अभाव कर दिया, जिनके क्षुधातृषादि अठारह दोष नष्ट होगये, जो निगोद रहित परमौदारिक शरीर मे विराजमान हैं, वे आप्त भगवान अरहन्त ही विमल है।

५-कृतीः—कृतकृत्य—जिन्हें अब कुछ शेष करना नहीं रहा। जो निज स्वरूप को प्राप्त कर कृतकृत्य व्याधि उपाधि रहित होगये वे ही भगवान आप्त कृती है।

६-सर्वज्ञः—जो अपने अनन्त अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा लोकालोक सम्बन्धी समस्त पदार्थों को भूत भविष्यत् वर्तमान काल की

समस्त पर्यायों सहित जानने वाला हो।

७-अनादिमध्यान्तः—जिनके जीव द्रव्य की अपेक्षा तथा ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य की अपेक्षा कोई आदि मध्य अन्त नहीं है।

८-सार्व.—जिनके वचन और काय की प्रवृत्ति जगत के प्राणीमात्र के हित के लिये ही होती है अर्थात जो समस्त जीवों के हितकारक हों।

निकट भव्य जीवों को उनके हितरूप शिक्षा देने वाले जिस व्यक्ति में भी उपर्युक्त अष्ट विशेषण यथार्थ रूप से पाये जावे वही शास्ता है, वही आप्त है। वही सच्चा हितोपदेशी है।

अनात्मार्थं विनारागैःशास्ता शास्ति सतोहितम्।
ध्वनन् शिल्पकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥८॥

अर्थ—हितोपदेशी बिना किसी प्रयोजन के तथा बिना किसी राग भाव के सत्पुरुषों के हित का उपदेश दिया करता है, जैसे बजाने वाले के हाथ के स्पर्श मात्र से नाना शब्द करता हुआ मृदंग किंचित भी इच्छा नहीं रखता है।

भावार्थ—यह नित प्रति प्रत्यक्ष देखने में आता है कि संसारी जीव जगत में जितने भी कार्य करते है अपने अभिमान, लोभ, यश, प्रशंसा आदि से प्रेरित होकर ही करते हैं। परन्तु जितने उपकारक पदार्थ प्रकृति में देखने में आते है वे सब बिना इच्छा ही प्राणियों के पुण्योदय से ही प्रगट होते है। ऐसे ही भगवान

अरहन्त का भी, भव्य जीवों के पुण्य निमित्त से अनेक देशों में विहार होता है और उनकी दिव्य ध्वनि द्वारा धर्मरूप अमृत की वर्षा होती है, अर्थात् बिना इच्छा ही जीवोंके परोपकारके निमित्त भगवत् का धर्मरूप हितोपदेश होता है ।

आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्ट विरोधकं ।
तत्वोपदेशकृतसार्वं शास्त्रं कापथघट्टनं ॥६॥

अर्थ—जो आप्त का कहा हुआ हो, जो किसी भी वादी प्रतिवादी द्वारा खंडन न किया जा सके, जिसमें प्रत्यक्ष अनुमानादि द्वारा किसी प्रकार का कोई विरोध न आ सके, जो वस्तु स्वरूप का यथार्थ उपदेश करने वाला हो, समस्त जीवों का हितकारी हो, मिथ्या मार्ग का निराकरण (खंडन) करने वाला हो, वही सत्यार्थ शास्त्र है ।

भावार्थ—संसार मे देखने मे आता है कि शास्त्रों के बल पर ही अनेक पाखंड, भेष, मिथ्याधर्म फैल रहे हैं। जिनका सेवन करके प्राणियों को सुख शान्ति का मार्ग मिलता नहीं। ऐसी दशा में जिज्ञासुओं का कर्तव्य है कि परीक्षा प्रधानी होकर परीक्षा करके ही शास्त्रों को ग्रहण करें। अल्पज्ञ का कहा हुवा शास्त्र सत्यार्थ हो नहीं सकता। रागी द्वेषी, अभिमानी, लोभी दंभी कपटी विषयालंपटियों के कहे हुये शास्त्र सत्यार्थ नहीं। जो आगम वादी प्रतिवादियों द्वारा खंडन किया जा सके जिसमें प्रत्यक्ष प्रमाण तथा अनुमान द्वारा बाधा आती हो, जिसमें पूर्वा पर विरोध पाया जावे, भला वह आगम कैसे प्रमाण हो सकता है ? जो

आगम वस्तु का यथार्थ स्वरूप न कहकर केवल आडम्बर रूप, लोकरञ्जन असत्य विकथाओं का कहने वाला है, जिसमे प्राणियों की हिंसा रूप उपदेश की पुष्टि की गई हो, जिसमे महा आरंभ के बढ़ाने, पर धन हरन, घोर संग्राम द्वारा बड़ी बड़ी सेनाओं के तथा फूले फाले नगर ग्रामादि के विध्वंश कर डालने, अन्याय तथा अनीति करके परिग्रह बढ़ाने, परस्त्री में लंपटता बढ़ाने का कथन किया गया हो वह समस्त प्राणियों का हितकारी आगम कैसे कहला सकता है !

जिस आगम मे सप्त व्यसन के सेवन की आज्ञा, कुमार्ग में प्रवर्तावने वाली शिक्षा पायी जावे वे सच्चे आगम कैसे हो सकते है ? मोटे रूपमे समझना चाहिये कि जो आगम वीतराग का कहा हुवा है, जिसमें रागादिक विषय कषायों की शिक्षा का अभाव है जिसमे समस्त जगत के प्राणीमात्र की दया का उपदेश मुख्यतया पाया जावे, वही सच्चा आगम है, वही संसार के जीवों के हृदयस्थल मे छाये हुवे मोह महातम को दूर कर यथार्थ ज्ञान का प्रकाश करनेवाला है, जगत के जीवों की जड़ता को हरण करने मे सामर्थ है और उसी आगम की भक्ति अविनाशी, अवि-कार परमानन्द का आस्वादन कराने का एकमात्र अमोघ उपाय है।

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्त स्तपस्वीसप्रशस्यते ॥१०॥

अर्थ—जो विषयों की आशा के वशीभूत न हों,

आरंभ रहित हों, अन्तरङ्ग बहिरङ्ग के चौबीस परिग्रह रहित हों, जो ज्ञान ध्यान तप में लवलीन हों, ऐसे चार विशेषणों सहित जो तपस्वी कहिये गुरु हैं वे ही प्रशंसा योग्य हैं।

भावार्थ—जो रसना इन्द्रिय के लपटी है, जो रात दिन भोजन कथा करके ही अपने चित्त को रंजायमान किया करते है नाना प्रकार के भोजनों के लिये निरंतर लालायित रहते है; जो कर्ण इन्द्रिय और मन के दास हो रहे है। जिनकी इच्छा हर समय अपना ही यश, अपनी ही कीर्ति तथा प्रशसा सुनने की रहती है; जो कषायो के वशीभूत होकर सुन्दर२ महल, मन्दिर, बाग, बन उपवन नगर ग्राम सिनेमा, थियेटर आदिक मनोरंजक दृश्यो के देखने के लिये उत्सुक रहते है, जो कोमल शय्या तथा कोमल और ऊंचे आसन पर ही सोने बैठने की इच्छा रखा करते है, अच्छे अच्छे सुगंधित और बहुमूल्य अतर फुलेल, लवडर, आदि का सेवन करके अपने को धन्य मानते है, ऐसे साधु या गुरु स्वयम् ही इन्द्रियविषयों के लम्पटी है, अन्य भव्य जीवों को, वे कैसे वीतराग मार्ग मे प्रवृत्ति करा सकते है? और वे कैसे वंदन योग्य हो सकते हैं? जिनके आरम्भ लगा हुवा है जो ग्रहस्थियों की तरह पाप रूप प्रवृत्ति करते हुवे जरा भी भय नहीं करते और अपने सांसारिक प्रयोजनों की सिद्धि के लिये त्रस स्थावर जीवों का घात करते हुवे जरा भी पाप का भय चित्त मे नहीं लाते, वे कैसे सच्चे गुरु कहला सकते है? वे आत्मज्ञान शून्य बहिरात्मा हैं उनके गुरुपना कैसे संभव हो सकता है?

जिनके चौदह प्रकार का अन्तरङ्ग परिग्रह:—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, रति, अरति, हास्य, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, और दस प्रकार का बहिरंग परिग्रह :—क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य, भांड; पाया जावे वे गुरु कैसे हो सकते है, जो आप ही संसार मे फंस रहा है, वह दूसरों का उद्धार करने वाला कब और कैसे हो सकता है। वह तो परिग्रह के घटने से अपना घटना, बढ़ने से अपना बढ़ना ऊंचापना नीचापना मान पर्य्याय बुद्धि हुवा रहता है, इसके संयोग वियोग मे रागद्वेष रूप परिणाम कर अपने को कभी सुखी कभी दुखी मानता है। इस प्रकार संयम धारण करने तथा संसार को त्याग देने के पश्चात् भी जिन का मन परिग्रह मे फंसकर मलीन रहा करता है उनके गुरुपना कैसे सभव हो सकता है ?

जो गुरु निरन्तर चलते फिरते, रात दिन, उठते बैठते, भोजन करते भी ज्ञानाभ्यास मे, धर्मध्यान मे, इच्छा निरोध नामी तप मे मग्न और लवलीन रहा करते हैं, वे ही गुरु प्रशंसा योग्य मान्य हैं, पूज्य हैं ! वन्द्य है—सच्चे गुरु क्षमा भूषण से भूषित दिगम्बर, पृथ्वी के समान अचल, समुद्र के समान गंभीर, वायु के समान निःष्परिग्रह, अग्नि के समान कर्म भस्म करने वाले, आकाश के समान निर्लेप, जल के समान स्वच्छ चित्त के धारक एवं मेघ के समान परोपकारी हुवा करते हैं। जो गुरु परमज्ञानी, परमध्यानी तथा दृढ़ वैरागी होते हैं वे ही सुगुरु हैं, वे ही परम पूज्य, तथा वन्द्य हैं।

इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा ।
इत्यकम्पाय साम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशयारुचिः॥११

अर्थ—श्लोक नं०५, ६, १० में जो आप्त, आगम, गुरु का लक्षण कहा गया वही तत्वभूत सत्यार्थ स्वरूप है, इस प्रकार ही है; और नहीं है, और अन्य प्रकार भी नहीं है। इस प्रकार सन्मार्ग कहिये जिनमार्ग में खड्ग के जल (आब-धार) के समान संशय रहित निश्चल श्रद्धान होना निःशङ्कित अंग कहलाता है।

भावार्थ—जो संसार के अनेक प्रकार के शस्त्रधारी, स्त्रीलम्पटी क्रोधी, मानी, मायाचारी, लोभी, अपनी इन्द्रजालवत् क्रियाओं के दिखाने के इच्छुक देवों को सच्चा देव; हिंसा, काम क्रोधादिक कषायों मे धर्म बताने वाले आगम को सच्चा आगम, और अनेक पाखंडी, लोभी, कामी अभिमानी व्यक्तियों को कदापि सच्चा गुरु नहीं मानता है और न उनमे किसी प्रकार का श्रद्धान रखता है। जिसका चित्त उनकी खोटी युक्तियों द्वारा चलायमान नहीं होता, जिसके परिणाम उनके बाहरी झूठे मंत्र यंत्र आदि के चमत्कार के देखने से विकारी नहीं होते; जिनके परिणामों मे मिथ्यादृष्टियों के वचनरूप पवन से कोई मिथ्यात्वरूप हलन चलन नहीं होता है, जो अपने श्रद्धान मे ऐसे ही दृढ़ और निश्चल रहते हैं जैसे खड्ग् की धार की आब किसी प्रकार की पवन द्वारा चलायमान न होकर अपने स्वभाव में ही निश्चलता के साथ तिष्ठती है। उन्हीं के निःशङ्कित गुण होता है। जिस सम्यक्दृष्टि

ने स्वानुभव द्वारा अपने आत्मतत्त्व के स्वरूप को यथार्थ जान लिया है और पुद्गलादि पर पदार्थों के सम्बन्ध को साक्षात् पर-रूप जान लिया है वह शङ्का अर्थात् सप्त भय रहित होता है, उसके निःशाङ्कित गुण पाया जाता है। सप्त भय के नाम यह हैं:— इस लोक भय, परलोक भय, वेदना भय, अरक्षा भय, अगुप्ति भय, अकस्मात् भय, मरण भय।

इस लोक भय—सम्यक् दृष्टि के इस लोक संबन्धी कोई किसी प्रकार का भय नहीं होता, वह जनता के भय के मारे अपने कर्तव्य से हटता नहीं, अपने निश्चित मार्ग पर डटा रहता है। चाहे कोई उसे कुछ भी क्यों न कहे, उसे भगवत् के आगम पर अटल श्रद्धा होती है। सम्यक्दृष्टि धन संपदा, शरीर, शरीर संबन्धी स्त्री, पुत्र, धन धान्य, राज्य आदिक को अपने से सर्वथा भिन्न पदार्थ देखता जानता है; विचारता है। कर्म के निमित्त इनका संयोग मेरे से होरहा है, कर्म निमित्त से इनका वियोग भी अवश्य होगा, क्योंकि जिसका संयोग हुवा करता है उसका वियोग होना भी अवश्य है। मेरा इनके साथ अनेक भवभवान्तरों में अनेक बार संयोग होकर वियोग हो चुका है; जो उपजता है, वह नाश को अवश्य प्राप्त होता है। मै ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, संयोग वियोग मेरे मे नहीं है, मैं एक शुद्ध ज्ञाता दृष्टा स्वभाव का धारक हूँ, मैं अविनाशी हूँ। ऐसा दृढ़ श्रद्धान जिसके होता है वह शरीर के वियोग होजाने का तथा धन धान्यादिक दस प्रकार के परिग्रह के बिगड़ जाने का तथा नष्ट भृष्ट हो जाने का क्या भय करता है? वह तो अपने नियत मार्ग पर एक सच्चे योद्धा की भांति डटा रहता है।

परलोक भय—प्रथम तो सम्यक दृष्टि से कोई ऐसा कार्य नहीं बन आता, जिसके कारण उसे दुरगति मे जाना पड़े—यदि कभी कर्मवश किसी दुर्गति में जाता भी है तो वहां वह अपने कर्म फल स्वरूप दु:खों से घबराता नहीं। उसके अन्तरङ्ग में ऐसी दृढ़ श्रद्धा होती है कि वह उन भविष्य में आने वाले दु:खों का कोई भय जरा भी नहीं मानता वह विषय भोगों का लोलुपी नहीं होता—अपने कर्मोदय पर सन्तोष रखता हुवा परलोक संबन्धी चिन्ताओं से भयभीत नहीं होता, वह विचारता है कि हमारा लोक तो हमारी आत्मा का निज ज्ञान दर्शन है, जिसमें समस्त वस्तुये प्रतिबिंबित हो रही हैं मैं अविनाशी हूँ, अखंड हूँ, मोक्ष का नायक हूँ, मेरा लोक तो मेरे ही भीतर है, मेरे ज्ञान से बाह्य जो लोक है जिसमें नर्क स्वर्ग आदि जो सर्वज्ञ के ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष जाने जाते हैं, मेरे स्वभाव से भिन्न है, मेरा उन से क्या संबन्ध है? ऐसे परलोक संबन्धी भय सम्यकदृष्टि के नहीं होता है।

वेदना भय—सम्यक्दृष्टि नीरोग रहने का उपाय अवश्य करता है, अपनी खान पान आहार विहार निद्रा आदि क्रियाओं को पूर्ण सावधानता से करता है, तथापि वह इस प्रकार का भय नहीं करता कि वेदना हो जावेगी तो क्या करूंगा? वह तो रोग को असाता वेदनीय कर्म जनित जानता है, उसके स्वरूप को पह-चानता है। यदि वेदनीय कर्म के तीव्रोदय से कष्ट आ भी जाता है तो घबराता नहीं, कर्म की निर्जरा का हेतु जान कर निर्भय होकर समतापूर्वक उसको सहन करता है तथा उसका यथोचित उपाय करता है।

सम्यक्दृष्टि विचारता है, वेदना नाम जानने का है, मैं जानने वाला जीव हूँ, एक अपने ज्ञान स्वरूप का ही अनुभव करने वाला हूँ, ऐसे यह ज्ञान वेदना तो अविनाशीक है; यह तो मेरी आत्मा का स्वभाव ही है, शरीर से इसका कोई सबंध नहीं है। वेदनीय कर्म जनित जो सुख दुख रूप वेदना है, उसको मोहनीय कर्म के निमित्त से मैं अपना मान रहा हूँ, यह मेरा भ्रम है वह मेरा रूप नहीं है, यह वेदना शरीर संबंधी है, मेरे से भिन्न है मैं तो ज्ञायक दृष्टा स्वभाव का धारक चिदानंद रूप हूँ । इस प्रकार ज्ञान वेदना को शारीरिक वेदना से सर्वथा भिन्न जानता हुवा सम्यक् दृष्टि निर्भय रहता है और शारीरिक वेदना से भय भीत नहीं होता है।

अनरक्षाभय— सम्यक्दृष्टि कभी ऐसा विचार नहीं करता कि मेरा रक्षक संसार में कौन है ? यदि वह कहीं परदेश में, या किसी जंगल में या किसी अन्य स्थान में अकेला होता है तो अन रक्षा का भय उसके चित्त में नहीं आता, उस को तो अपने आत्मा के अविनाशी अजर अमर स्वभाव मे दृढ़ विश्वास होता है। वह जानता है ससार मे मेरा रक्षक अन्य कौन हो सकता है, निश्चय नय से मुझे मेरी अपनी आत्मा ही शरण है, व्यवहार में अरहन्त सिद्ध साधु परमेष्ठी तथा केवली प्रणीत धर्म के अन्य कोई मुझे शरण नहीं है। मेरा आत्मा अजर अमर अनादि निधन है, न इसका कोई रक्षक है, न कोई इसका घातक है। इस प्रकार सम्यक् दृष्टि अपने अविनाशी स्वरूप का अनुभव करता हुवा अनरक्षा भय से रहित होता है।

अगुप्ति भय—सम्यक्दृष्टि के ऐसा भय नहीं होता कि यदि हम लुट गये तो क्या होगा, ? चोर डाकू यदि हमारा माल असबाब चुरा कर या छीन कर ले गये तो क्या होगा? वह भयातुर नहीं होता, अपने धन माल आदि की रक्षा का सब प्रबन्ध करता है पूर्ण यत्न करता है, परन्तु रहता निश्चिन्त है। विचारता है हमारा कर्तव्य उपाय करना है यदि प्रबन्ध करते २ भी असाता वेदनीय कर्म के तीव्रोदय से धन आदि चोरी चला जाता लुट जाता है तो चला जावे, लक्ष्मी तो हमारे पुण्योदय से ठहरेगी। निश्चय से सम्यक् दृष्टि निज गुण, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान को ही अपना अप्रमाण अविनाशी धन मानता है और विचारता है कि इस धन मे चोर का प्रवेश नहीं; चोर, डाकू लुटेरे इस का हरण कर सकते नही, इस अनुपम विभूति को कोई छू नहीं सकता, इस प्रकार सम्यक् दृष्टि अगुप्ति भय रहित निःशङ्क होता है।

अकस्मात् भय—सम्यक्दृष्टि के इस प्रकार का व्यर्थ भय कोई नही होता, कि बिजली गिर पड़ी तो क्या होगा, भूकम्प आ गया तो क्या होगा, मकान गिर गया तो क्या होगा, आग लग गई तो क्या होगा—वह अपनी शक्त्यनुसार अपने रहने सहने, बैठने उठने आने जाने के साधनों का यत्नाचार पूर्वक संभाल संभाल कर काम मे लाता है। प्रयत्न करते हुवे भावी को कर्मोदय पर छोड देता है। निश्चय से सम्यक् दृष्टि विचारती है कि मेरा आत्मा सदैव शुद्ध, ज्ञातादृष्टा है, अचल है, अनादि है, अनन्त है अलक्ष है चैतन्य प्रकाशरूप सुख का निवास स्थान है इसमें

अचानक कुछ हो नही सकता। ऐसे दृढ़ भाव संयुक्त होने से सम्यक् दृष्टि निर्भय होता है।

मरणभय—सम्यक्दृष्टि के मरण भय नहीं होता—वह तो मरण को चोला बदलने के समान जानता है। उसकी प्रवृत्ति एक धीर वीर योद्धा सरिखी होती है, वह तो आत्मा को अमर जानता है वह विचारता है जगत मे पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोश्वास इन पुद्गलमय बाह्यदश प्राणों के वियोग का नाम ही मरण है—मेरी आत्मा के तो दर्शन, ज्ञान, सुख, सत्ता ये चार भाव प्राण हैं, यह कभी भी नाश को प्राप्त होने वाले नहीं अविनाशी हैं, नाश तो पुद्गल पर्याय का होता है। इन्द्रियादिक प्राण पर्याय के साथ उपजते तथा नाश को प्राप्त होते हैं। मैं चैतन्य अविनाशी हूँ। ऐसे निश्चय श्रद्धान के धारक सम्यक्दृष्टि के मरण के भय की शङ्का कदापि नहीं होती है।

इस प्रकार सम्यक् दृष्टि इन सप्त भयों से रहित होता है, उसे कोई भी भय छूने तक नहीं पाता। वह स्वस्थ तथा अनुभवशील होता है उसके किसी प्रकार का भी भय होना असम्भव है।

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये।
पाप बीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणास्मृता॥ १२

अर्थ—कर्म का है पराधीनपना जिसमें, अन्त कर सहित, दुखों से मिला हुवा है उदय जिस का, तथा जो पाप का बीज है ऐसे सांसारिक सुख में अनित्यरूप श्रद्धान

रखना अर्थात् सांसारिक सुख की बांछा नहीं करना, सो निःकांक्षित नामा अंग बताया गया है।

भावार्थ—इन्द्रिय जनित सुख कर्माधीन है, स्वाधीन नहीं है। नित प्रति देखने मे आता है कि महान से महान पुरुषार्थ करते हुवे भी और अनेकों उपायों के जुटाने पर भी बिना पुण्योदय सुख की प्राप्ति नहीं होती, इष्ट पदार्थ का लाभ नहीं हो पाता, अनिष्ट का ही समागम होता है। यदि कदाचित् पुण्योदय से ऐसे सुख की प्राप्ति भी हो जावे तो वह स्थायी नहीं अन्त सहित है। इन्द्रिय जनित सुख इन्द्र धनुषवत तथा बिजली के चमत्कारवत क्षणभंगुर है—पराधीन है—अनेकों पर पदार्थों पर निर्भर है। नीरोगता के आधीन, धन के आधीन, स्त्री के आधीन, पुत्र के आधीन, आयु के आधीन, आजीविका के आधीन, क्षेत्र के आधीन, काल के आधीन, इन्द्रिय तथा इन्द्रिय विषयों के आधीन इत्यादिक अनेक पराधीनताओं सहित है, विनाशीक है, सदैव बना रहने वाला नहीं—अखंड धारा प्रवाह रूप नहीं है। कुछ दिनों सुख है तो फिर दुःख है, कभी सुख भोगते २ रोग आ घेरता है, कभी स्त्री, पुत्र तथा अन्य किसी कुटुम्बीजन या इष्ट मित्र का वियोग हो जाता है, कभी धन संपदा की अकस्मात् हानि हो जाती है, कभी अनिष्ट का संयोग हो जाता है, कभी राजा द्वारा अपमान ही सहन करना पड़ता है, कभी अन्य कोई २ ऐसी दुर्घटना हो जाती हैं कि जिसके मारे न दिन मे चैन है न रात को नींद है। ऐसे यह सांसारिक सुख बीच २ मे आ जाने वाले अनेक दुःखों सहित है। पाप का बीज भूत है। ऐसे पुरुष तो बिरले ही हुवा

करते हैं जो सांसारिक सुख की सामग्री के मिलने पर धर्म न्याय, नीति पूर्वक अपने जीवन को व्यतीत करे। बहुधा तो यही दृष्टि गोचर होता है कि इन्द्रिय जनित सुख में तल्लीन होकर यह संसारी जीव अपने निज स्वाधीन सुख को भूल जाता है, अपने स्वरूप का इसे कभी क्षण मात्र के लिये विचार तक भी नहीं आता, महा घोर आरम्भ में फँसा हुवा अन्याय के विषयों का सेवन करता रहता है। जब एक बार अन्यायरूप प्रवृत्ति हो गई तो पाप बन्ध होवे ही होवे—कर्म किसी को बखशने वाला नहीं, चाहे कोई राजा हो या रङ्क। जब पाप का बंध हो गया तो उसके फल स्वरूप नरक तिर्यंचादि दुर्गति में इस जीव को परिभ्रमण करना ही पडता है, ऐसे पराधीन, अंत सहित दु:खों से व्याप्त इन्द्रिय जनित सुख की वाञ्छा सम्यक् दृष्टि के कैसे हो सकती है ? वह इस सुख को सुख ही नहीं मानता। सम्यक् दृष्टि को तो भेद विज्ञान द्वारा आत्मा के निज स्वभाव रूप अतीन्द्रिय, अनंतज्ञान और निराकुलता लक्षण अविनाशी सुख का अनुभव होता है, इस लिये वह इन्द्रियाधीन सुख को सुख न मान सुखाभास जानता है। उसे तो वेदना का इलाज समझता है। मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा ही इन्द्रिय जनित सुख को सुख मानता है। सुख तो वहाँ है जहाँ आकुलता नहीं। विषयों के आधीन सुख मानना मिथ्या श्रद्धान है। इस लिये सम्यकूदृष्टि के विषयाधीन सुख की वाञ्छा कदापि नहीं होती है। सम्यकूदृष्टि इस भव सम्बन्धी धन संपदा आदि विभूति की इच्छा नहीं करता, परलोक सम्बन्धी इन्द्रपना आदि की वाञ्छा नहीं करता—वह भली भांति जानता है कि आशा

किये कुछ प्राप्ति नहीं होती, भोगों की प्राप्ति के निमित्त दान, तप, शील संयम आदि धारण करना पुण्य का घातक है, पुण्य बंध तो निर्वांछक के होता है। सुख दुख हानि लाभ इस जीवको पूर्व कर्म बंध के अनुकूल ही होता है। कर्म के दूर करने के लिए, उन के पलटने मे उनके फल देने मे कोई देव, दानव, इन्द्र धरणेन्द्र तथा जिनेन्द्र प्रभु भी समर्थ नहीं है। अपने राग द्वेष आदि भावों द्वारा बन्ध किये हुवे कर्मों से अपने निज आत्मा को छुड़ावने के लिये, यह जीव स्वयं ही सन्तोष, क्षमा, तपश्चरणादिक के भावों द्वारा समर्थ है। अन्य कोई समर्थ नही है। सम्यक्दृष्टि ही ऐसा निशंक निर्वांछक तथा दृढ़ निश्चय का धारक होता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि महाव्रती साधु मुनिराज तथा त्यागी गृहस्थियों के तो शंका तथा वाञ्छा का अभाव संभव है, परन्तु अव्रती सम्यक्दृष्टि ग्रहस्थ के यह कैसे सभव हो सकता? उसके भोगों की इच्छा पाई जातीहै—वाणिज्य व्यापार करता है, नौकरी चाकरी करता है, अपने कुटुम्ब तथा अपनी सम्पदा आदि की वृद्धि चाहता है। रोग की, इष्ट वियोग की, आजीविका आदि के बिगड़ जाने की, धन द्रव्य आदि के नाश हो जाने की सदैव शंका उसके रहती है, उसके फिर निःशंक भाव और निःकांक्षित भाव कैसे होवे और इनके बिना फिर उसके सम्यक्त्व कैसा?

उत्तर—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय के अभाव से होता है। इसलिये अव्रत सम्यक्दृष्टि ग्रहस्थके मिथ्यात्व का अभाव हुवा और अनन्तानुबधी कषाय का भी अभाव हुवा। मिथ्यात्व के अभाव से तो सत्यार्थ आत्म तत्व और परतत्व का

श्रद्धान हुवा और अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव से विपरीत राग भाव का अभाव हुवा। जब श्रद्धान की विपरीतता नहीं रही तो सप्त प्रकार का भय भी अव्रती सम्यक्दृष्टि के नहीं रहा। इसीलिये सम्यक्दृष्टि निज आत्मा को अजर, अमर, अखड अविनाशी टंकोत्कीर्ण ज्ञान दर्शन स्वभाव श्रद्धान करता है। विपरीत राग भाव का अभाव हो जाने से इन्द्रिय विषयों की वाञ्छा जाती रही— वह अपने शरीर, धन, संपदा आदिक को पराधीन, विनाशीक दु:ख रूप जानता है और ऐसा झूठा संकल्प कि ये मेरे है या मैं इन रूप हूँ उसके नहीं होता। इस प्रकार अव्रती सम्यक्ती के, अनंतानबंधी (क्रोध, मान, माया, लोभ) कषाय के उदय जनित झूठा तथा विपरीत भय, शंका तथा पर वस्तु मे वांछा नहीं होती।

हाँ इतना जरूर है कि अप्रत्याख्यानावरण कषाय † प्रत्याख्यानावरण कपाय ‡ संज्वलन कषाय ❀ तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद इन इक्कीस कषायों के तीव्र उदय के कारण राग भाव उपजता है उसके वेग से प्रेरित होकर इन्द्रियों के आताप द्वारा सताया जाता है और आत्म बल की कमी होने के कारण त्याग से उसके परिणाम कांपते हैं। वह इन्द्रिय विषयों को दु:खरूप जानता है तथापि वर्तमान काल की वेदना सहन करने को समर्थ नहीं। जैसे एक रोगी मनुष्य कड़वी औषधि को पीना तो भला नहीं समझना, वेदना

---

† अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ

‡ प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ

❀ संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ

का सताया उस कड़वी औषधि को बड़े आदर से पीता है; अंतरंग मे यह जरूर जानता है कि इसका पीना बुरा है और भावना करता है कि वह दिन कब आवेगा कि मैं इस दवाई को नाममात्र के लिये भी ग्रहण नही करूँगा। इसी प्रकार एक अव्रती सम्यक्‌दृष्टि भी इन्द्रिय भोगों को कदाचित भला नहीं जानता, उसकी संहनन कच्ची है, परिणामोंमे दृढ़ता नहीं है, कोई सहायक दिखाई देता नही, कषाय के उदय से शक्तिहीन हो रही है पराधीन है तथा जैसे बन्दीग्रह मे पड़ा हुआ मनुष्य बन्दीग्रह से अतिविरक्त और उदासीन होता है, उसे भला नही जानता, तो भी वहाँ पराधीन पडा हुआ, उस कष्टदायक बन्दीग्रह को लीपता है, झाड़ता है, बुहारता है, ठीक वैसे ही एक सम्यक्‌दृष्टि अपने शरीर को बन्दीग्रह के समान जानता हुआ उसे पोषता है, उसको अपना नहीं समझता। वर्तमानकाल संबंधी वेदना का ही उसको भय है, केवल उस वेदना को मेटने मात्र ही उसकी इच्छा है। कर्म के जाल मे फंसा हुआ है, उससे निकलना चाहता है, परन्तु राग द्वेष, अभिमान, आदि अप्रत्याख्यान कषाय का कुछ सबंध ही ऐसा है कि उसके त्याग व्रतादि के करने की चाह होने पर भी उसे त्यागी नहीं होने देता।

कर्मोदय की दशा बलवान है, संसारी जीव अनादिकाल से कर्मोदय के जाल से निकला नही है। शरीर का संयोग बना हुआ है, शरीर के निर्वाह के लिये जीविका, भोजन तथा वस्त्र आदि की वाञ्छा करता ही है। अप्रत्याख्यान कषाय के उदय के वशीभूत होकर लोक में अपनी नीची प्रवृत्ति के अभाव रूप ऊँच

प्रवृत्ति को चाहता ही है, धन संपदा जीविका आदि बिगड़ जाने का भय करता है. तिरस्कार निरादर होने का भय करता है। इन्द्रिय संताप को सहन करने के लिये असमर्थ होने के कारण विषयों की वाञ्छा करता है क्योंकि उतनी कषाय घटी नही, राग घटा नही, आगे बहुत दुःख होता देख उसको टालना चाहता है। यह सब है, तथापि राज्य, भोग सपदा आदि को सुखकारी जान उनकी वाञ्छा कदापि नहीं करता, वह तो इनको पराधीन दुःख का मूल, आकुलतामय तृष्णावर्द्धक और पाप कर्म बन्धक जानता है।

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रय पवित्रते।
निर्जुगुप्सा गुण प्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता॥ १३

अर्थ—मनुष्य का शरीर स्वभाव से ही अशुच है, इसमें यदि किसी उत्तम मनुष्य के रत्नत्रय धर्म प्रकट हो जावे तो अशुच शरीर भी पवित्र है, अतः व्रतियों के शरीर को रोगादिक से मलीन भी देखकर उससे ग्लानि(जुगुप्सा) नहीं करना और रत्नत्रय में प्रीति करना सो निर्विचिकित्सत अङ्ग कहा गया है।

भावार्थ—विचिकित्सा नाम "न सुहावने" अथवा ग्लानि का है। ग्लानि रहित होने का नाम निर्विचिकित्सा है।

विष्ठादिक निंद्य वस्तुओं को देखकर हमे कभी ग्लानि नहीं करनी चाहिये क्योंकि उनका स्वभाव ही ऐसा है, हमे उनसे क्या जिस शरीर मे हमारा परम ज्योति स्वरूपी आत्मा तिष्ठता है, वह

तो और भी निन्द्य है ; यह हमारा शरीर तो सप्त धातुमय तथा मलमूत्रादि से भरा है, स्वभाव से ही अशुच है। यह शरीर तो रत्नत्रयरूप धर्म के प्रगट होने से ही पवित्र होता है। रोगी, बूढ़े तथा तपश्चरण द्वारा क्षीण और मलीन हुए शरीरको देख जिसको ग्लानि नहीं होती और जिसको गुणों से प्रीति होती है उसीके निर्विचिकित्सा अङ्ग होता है। सम्यक्दृष्टि वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता है, पुद्गल के नाना स्वभावों को भली भांति जानते हुवे मल मूत्र रुधिर मांस राध (पीप) सहित तथा दरिद्र, रोगादिक सहित किन्हीं मनुष्य तिर्यंचों के शरीर आदि की मलीनता, दुर्गन्धता देखकर या सुनकर ग्लानि नहीं करता है। दारिद्री होना रोगी होना, नीच कुलादि मे उत्पन्न होना, खोटे बिड़रूप शरीर का होना, बेडोल भद्दे अङ्गोपाङ्ग का प्राप्त होना नीच हीन दशा मे होना यह सब कर्मोदय से होता है, सम्यक्दृष्टि इन्हें कर्म जनित जान ग्लानि करके अपने मन को नहीं बिगाड़ता, नाक भौं नहीं चढ़ाता। यदि किसी को निंद्य कर्म या आचरण करते हुवे देख लेता है तो उसके पाप आचरण को उसके लिये हानिकारक जान उसे छुड़ाने का प्रयत्न अवश्य करता है परन्तु अपने परिणामों को बिगाडता नहीं। मलीन क्षेत्र, ग्राम को देख, दरिद्रता को देख ग्लानि नहीं करता। यदि अपने दरिद्रता हो गई हो, शरीर मे रोग आजावे, या किसी इष्ट का वियोग या अनिष्ट का संयोग हो जावे तो उन को अशुभ कर्मोदय का फल जान खेद खिन्न नहीं होता परिणामों में मलीनता को फटकने नही देता। उसे निश्चय है कि कर्म अपना फल अवश्य देता है, जो कर्म

बन्ध मैंने किया है उसके फल को तो मैं ही भोगूगा अन्य कौन भोग सकता है ?

निर्विचिकित्सा अङ्ग के पालन करने वाला अपने मे अधिक गुण समझ कर डींग नहीं मारता, अपनी प्रशंसा नही करता, दूसरों की हीनता सिद्ध करने की बुद्धि नहीं रखता, वह विचारता है कि संसारी जीवों मे जो भेद हैं वह सब कर्म जनित हैं, परन्तु वास्तव में सब ही आत्माएँ समान हैं निश्चय से गुणों की अपेक्षा उन में कोई भेद नहीं है। दुःखी दरिद्री, रोगी प्राणियों पर दया भाव रख कर उनके साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करता है, उनके क्लेश को मेटने का भरसक प्रयत्न करता है।

सत्य है जिसके निर्विचिकित्सा अंग है, उसी के दया है, उसी के वात्सल्य तथा स्थितिकरणादि गुण प्रगट होते है और उसी के वैय्यावृत्य होता है।

कापथे पथिदुःखानां कापथस्थेऽप्य संमतिः ।
असं पृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टि रुच्यते ॥१४॥

अर्थ—कुगतियों में घोर दुःख का कारण मिथ्यामार्ग और मिथ्यामार्गमें तिष्ठने वाले मिथ्यामार्गियों की मन से प्रशंसा नहीं करना, वचन से स्तवन नहीं करना तथा शरीर से प्रशंसा रूप कोई क्रिया न करना अमूढ़दृष्टि अङ्ग है।

भावार्थ—संसार में अनेक जीव विपरीत रूप प्रवृत्ति करते

हैं, सम्यकूदृष्टि उनकी देखा देखी कभी भी प्रवृत्ति नहीं करता, वह ज्ञान पूर्वक विचार कर ही कार्य करता है।

हम नित प्रति देखते है कि संसारी जीव मिथ्यात्व के प्रभाव से रागी द्वेषी देवों की पूजा, प्रभावना देख उनकी प्रशसा करते है, अभक्ष्य भक्षण करने वाले ढोंगी, दम्भी, मानी कुलिङ्गियों की तथा उनके मार्ग की प्रशसा करते है। अपने कार्य की सिद्धी के निमित्त देवी देवताओ की बोलत क़बूलत करते हैं, उनको रिश्वत देना कर ऐसा विचार करते है कि मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो जावे तो छत्र चढ़ाऊँ, मन्दिर बनवाऊँ, रुपया चढ़ाऊँ, बलि चढ़ाऊँ, सवामण का चूरमा चढ़ाऊँ, बालकों के बाल चोटी उतरवाऊँ इत्यादि अनेक मिथ्यात्व रूप क्रियाओं की बोलत करते है, यह सब तीव्र मिथ्यात्व के उदय का प्रभाव है। सम्यकूदृष्टि के ऐसे विचार कदापि नहीं होते। जिनके चित्त मे दया होती है, जो अहिंसाके पुजारी है, जो किसी का अपराध भूल कर भी नहीं करते, उनकी विराधना करने के लिये तो देव भी असमर्थ है।

सम्यकूदृष्टि धर्म की क्रिया को विचार पूर्वक करता है। रूढि-पूर्वक देखा देखी मिथ्यात्व वर्द्धक और निरर्थक क्रियाओं को धर्म मानकर नहीं पालता है। मूढ़ बुद्धि का त्याग कर देता है।

सम्यक् दृष्टि लोभसे, भय से, आशा से, लज्जा से किसी प्रकार भी कुदेव, कुगुरु, कुधर्म तथा उनके मानने वालों को प्रणाम तथा उनकी विनय, प्रशंसा नहीं करता।

जो देव कुदेव, धर्म कुधर्म, गुरु कुगुरु, पाप पुण्य, भक्ष्य अभक्ष्य, त्याज्य अत्याज्य, आराध्य अनाराध्य, कार्य अकार्य, शास्त्र-

कुशास्त्र, दान कुदान, पात्र अपात्र, देने योग्य न देने योग्य, युक्ति कुयुक्ति, कहने योग्य न कहने योग्य, ग्रहण करने योग्य न ग्रहण करने योग्य, पदार्थोंको, सर्वज्ञ वीतराग भगवानके अनेकान्तरूप परमागम द्वारा अच्छी तरह समझ कर निर्णय करे, मूढता रहित होवे, पक्षपातको छोड़ व्यवहार परमार्थ मे विरोध रहित होय यथार्थ वस्तुस्वरूप का श्रद्धान करे; उसके सम्यक्त का चौथा अङ्ग अमूढ़दृष्टि नाम कहा जाता है।

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्त जनाश्रयां।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनं ॥१५॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् का उपदेशा हुवा रत्नत्रय रूप मार्ग स्वयं स्वभाव से सर्वथा शुद्ध तथा निर्दोष है। ऐसे मार्ग (धर्म) की किसी अज्ञानी जन की भूल चूक से अज्ञानता से या किसी शक्तिहीन के निमित्त से निंदा होती होवे तो उस निंदा तथा अपवाद के दूर करने तथा निराकरण करने को उपगूहन अङ्ग कहते हैं।

भावार्थ—पराये दोषों को ढांकना उपगूहन है, यदि किसी समय में किसी धर्मात्मा पुरुष से उसके अज्ञानता तथा शक्ति हीनता के निमित्त से कोई दोष बन जाता है, तो सम्यक्दृष्टि इस भाव से कि यदि इसके दोष को अन्य मिथ्यादृष्टि लोग सुनेंगे तो धर्म की निन्दा करेंगे, समस्त धर्मात्माओं को दूषण लगावेगे निज धर्म की तथा जिनेन्द्र देव के निर्दोष मार्ग की निंदा होगी;

धर्म से सच्ची प्रीति रखते हुवे धर्म को अपवाद से बचाने के हेतु उस के दोष को छुपाता है। उस की मुश्तहिरी (ज़ाहिरपन) नहीं करता है। जैसे माता की अपने पुत्र मे कुछ ऐसी स्वाभाविक प्रीती होती है कि यदि पुत्र कभी कोई खोटा अन्याय रूप व्यवहार कर बैठता है तो माता उसके उस दोषको छुपाया ही करती है, ऐसे ही एक सम्यक्दृष्टि को धर्मात्मा पुरुष तथा धर्म से ऐसी प्रीति होती है यदि अज्ञानता या शक्तिहीनताके कारण या कर्म के प्रबल उदय से किसी भी साधर्मी जन के व्रत, संयम, तप शील आचरण में कोई दोष लग जाता है तो अपनी शक्ति प्रमाण उस दोष को यथायोग्य आच्छादन ही करता है। और उसे दूर करने का भरसक प्रयत्न करता है सम्यक्दृष्टि का कुछ स्वभाव ही ऐसा होता है कि वह दूसरों का अपवाद नहीं करता ? अपनी प्रशंसा नहीं करता, वह विचारता है कि यह संसारी जीव अष्टकर्म के वशीभूत हुवा कौन कौन अनर्थ नहीं करता ? विषय कषाय अच्छे अच्छे संसारी जीवों की बुद्धि भ्रष्ट कर उनको नाना प्रकार के नाच नचाते हैं अज्ञानी जन द्वारा किये गये दोष को देख संक्लेशित क्यों होना—उन की दशा को देख करुणा बुद्धि धारण करना और उनका यथा योग्य सुधार करना ही अपना कर्तव्य है।

इसी अंग को उपब्रंहण भी कहते हैं। उपब्रंहण का अर्थ है बढ़ाना, अपनी आत्माके धर्म बढ़ाने, तथा अपनी आत्मिक शक्तिके बढ़ाने और उसके प्रकाश करने का नाम उपब्रंहण है। उत्तम क्षमा मार्दवादि भावोंद्वारा निज आत्मा के शुद्ध स्वभावका बढ़ाना सम्यक् दृष्टि का परम कर्तव्य है।

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः ।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरण मुच्यते ॥१६

अर्थ—सम्यक् दर्शन अथवा सम्यक् चारित्र से विचलित पुरुषों को धर्म प्रेमी तथा धर्मात्मा प्रवीण पुरुषों द्वारा उपदेशादि देकर फिर से सत्यार्थ श्रद्धान तथा आचरण में स्थापित करा देना बुद्धिमानों द्वारा स्थितीकरण अंग कहा जाता है।

भावार्थ—यदि किसी समय कोई धर्मात्मा अव्रत सम्यक्दृष्टि तथा चारित्र धारकव्रती संयमी प्रबल कषाय के उदय से, खोटी संगति से, रोग की तीव्र वेदना से, दारिद्रता से, मिथ्या उपदेश से, या मिथ्यात्वियों के मंत्र तंत्रादि के चमत्कार को देख कर अपने सत्यार्थ श्रद्धान तथा आचरण से चलायमान होता हो तो उसको श्रद्धान आचरण से च्युत होते हुवे देख कर धर्म प्रेमी धर्मात्मा पुरुष उसको उपदेशादिक देकर फिर से सत्यार्थ श्रद्धान तथा आचरण में स्थापित करते है, इसका नाम स्थितिकरण है।

सम्यक्दृष्टि धर्म से चलायमान होने वाले पुरुष को अपने उपदेशादि द्वारा सम्बोधता है। उसे बताता है कि संसार में मनुष्य जन्म, उत्तम कुल, इन्द्रियोंकी शक्ति तथा धर्म का लाभ इन सब बातों का प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है। यदि एक बार भी इसे व्यर्थ नष्ट भ्रष्ट कर दिया जाता है तो फिर इसकी प्राप्ति अनन्तकाल में भी कठिन है। दुःख शोक, रोग, वियोग दरिद्रादिक द्वारा कायर होना या आर्त्त परिणामी होना योग्य नहीं।

इनका संयोग होने पर दुःखित होने से कर्म का अधिक बंध होता है कर्म बखशने वाला नहीं है, कायरता से भोगोगे तो भोगना पड़ेगा, धैर्य वीरता पूर्वक भोगोगे तो भोगना पड़ेगा—समता पूर्वक कष्ट को सहन करना ही ज्ञानी पुरुषों का कर्तव्य है, कायरता दुर्गति का कारण है इसे धिक्कार होवे। ऐसी दशा में तो साहस पूर्वक धीरता तथा सतोषव्रत सहित धर्म का सेवन करना ही योग्य है। ऐसे संकट के समय में धर्म ही एक मात्र शरण है। दुख और संकट किस पर नहीं आये, जिसने धर्म की शरण ग्रहण की उसी का संकट उसी का उपसर्ग दूर हुवा। संसारमे जो जो वस्तु उपजती है सब ही विनाशवान है, जब यह शरीर ही अपना नही तो अन्य कौन हमारा हो सकता है? सुख दुःख हानि लाभ संयोग वियोग आदि सब संसारी जीवों के कर्मोदय से हुवा करते है, इनमे हर्ष विषाद क्या करना?

यदि कोई रोग की तीव्र वेदना के कारण धर्म से चलायमान होता हो तो उसे औषधि भोजन पथ्यादि देकर उस का उपाय करे, उसको बारह भावनाओं का स्मरण करावे, उसकी वैय्यावृत्य करे, उसके शरीर की टहल करे, उसके मल मूत्रादिक विकृति को दूर करे करावे इत्यादिक सेवा करके उसके परिणामो को धर्म मे दृढ़ करना स्थितिकरण है।

यदि कोई दरिद्रादि कर पीडित हो तो यथाशक्ति उसको उपदेश देकर उसके लिये आहार पान वस्त्र, जीविका मकान आदि का प्रबन्ध करके या कराके जिस प्रकार भी बने दान सन्मान आदि उपाय द्वारा उसको धर्म में स्थिर करना स्थितिकरण है।

किसी समय यदि अपना ही आत्मा नीति मार्ग को छोड तथा काम, मद, लोभ आदि कषाय के वशीभूत हो अन्याय करने के लिये उद्धत हो जावे, अन्याय के विषय भोग भोगने की, या अन्याय से दूसरो का धन हरण करने की चाह उत्पन्न हो जावे अयोग्य बचन मे प्रवृत्ति हो जावे, भक्ष्य अभक्ष्य का विवेक जाता रहे, अभिमान के वश होकर कार्य अकार्य का विवेक न रहे, संतोष जाता रहे, परिग्रह मे लालसा बढ़ जावे, कुटुम्बमे मोह बढ़ जावे, रोग मे कायर हो जावे किसी कारण वश आर्त्त ध्यान होजावे, दरिद्रादिके कारण दीनता हो जावे, उत्साहहीन आकुलता रूप होजावे तो अध्यातम शास्त्र का स्वाध्याय करे, भावनाओंके स्वरूप का चिन्तवन करे, तथा आत्मा के वास्तविक स्वभावको अजर, अमर, अविनाशी, एकाकी, परद्रव्य के स्वभाव से सर्वथा भिन्न चिन्तवन कर निज धर्म मे स्थिर करना स्थितिकरण है। दूसरे शब्दों मे यह समझिये कि कर्मोदय मे अपने निज स्वभाव को सर्वथा भिन्न जान कर कर्मोदय से अपने स्वभाव को चलायमान न होने देना सम्यक्त का स्थितिकरण नाम अंग है।

स्वयूथ्यान् प्रति सद्भाव सनाथापेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥ १७

अर्थ—सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप धर्म के धारण करने वालों के यूथ (समुदाय) को संघ कहते हैं। संघ में रत्नत्रय धर्म के पालन करने वाले मुनि, आर्यिका, श्रावक श्रावका होते हैं। ऐसे चतुर्विधि संघ तथा अव्रति सम्यक्-

दृष्टि के सामने सरल परिणामों के साथ निष्कपट होकर विनय तथा भक्तिपूर्वक खड़ा होना, उनके सन्मुख जाकर बन्दना करना, गुणानुवाद करना, हाथ जोड़ना, उनकी आज्ञा का पालन करना पूजा प्रशंसा करना, उच्चासन देय, आप उनसे नीचे स्थान पर बैठना, जैसे किसी दीन रंकको निधि मिल जाने पर हर्ष होता है वैसा ही हर्ष धारण करना, उनके प्रति अपने चित में महान् प्रीतिका भाव उत्पन्न करना, यथा अवसर आहार पान, वस्तिका उपकरणादि द्वारा उनका वैय्यावृत्य करके आनन्द मानना, अपने को धन्य मानना वात्सल्य नामा अङ्ग कहलाता है।

भावार्थ—जिसके अहिंसा मे प्रीति होती है, जो हिंसा और उसके कारणों से बचता फिरता है, जो सत्य तथा सत्यवादियो का उपासक है, जिसको सत्यार्थ धर्म के प्ररूपण से प्रेम है, जो परधन तथा पर स्त्री की लालसा नही रखता है उसी के वात्सल्य होता है। दशलक्षण धर्म तथा उसके पालन करनेवाले साधर्मियों के प्रति जिसके हृदय मे अनुराग होता है, जो, त्यागी, महान संयमी, तपस्वी धर्मात्माओं के साथ बड़े आदर पूर्वक प्रिय वचनों द्वारा प्रवृत्ति करता है उसके वात्सल्य होता है। यद्यपि एक सम्यक्-दृष्टिको अंतरंगमे तो अपने शुद्धदर्शन ज्ञान गुण से अनुराग होता है और बाह्य मे रत्नत्रय धर्म के धारी तथा उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म के पालन करने वालों, तथा धर्म के आयतनों मे अनुराग होता है, तथापि अन्य धर्मावलंबियों और मिथ्या दृष्टियों के प्रति

उसके द्वेष नहीं होता है। सम्यक्दृष्टि वस्तु के वास्तविक स्वभाव को जानता है, वह समझता है कि संसारी जीव मिथ्यात्व, मोह, तथा अज्ञान के वशीभूत हुवे अपने आपको भूले हुवे है. अज्ञानी है इनसे द्वेष क्यों करना ? उनपर दया भाव रखना तथा उनके प्रति मध्यस्थ रहना ही उचित है। करुणा बुद्धिपूर्वक उनसे किसी प्रकार भी शत्रुता का भाव नहीं करता है। उनका बिगाड नहीं चाहता, उनके धर्म स्थान, देवालय मठ आदि को नष्ट भ्रष्ट नहीं करना चाहता, वह विचारता है कि जिसको जैसा सम्यक् तथा मिथ्या उपदेश मिलता है वैसा ही प्रवर्तन किया करता है। सम्यक् दृष्टिके समस्त जीवों के प्रति मैत्रीभाव होता है, उसको किसी से बैर नहीं होता; गुणवानों के प्रति उसके चित्तमे हर्ष का भाव होता है, दीन दुखी जीवोंके लिये उसके हृदय मे करुणा होती है, तथा विरोधियो के प्रति वह मध्यस्थ रहता है। एक सम्यक्दृष्टि अपने श्रेष्ठ आचरण, ज्ञान ध्यान मे किसी प्रकार भी शिथिलता न लाते हुवे धर्म और धर्मात्माओं के साथ गौ वत्स (बच्छे) के समान प्रेम भाव रखते हुवे उनके दुःखो को मिटाने का भरसक प्रयत्न और उद्यम किया करता है।

अज्ञान तिमिर व्याप्ति मपाकृत्य यथायथं।
जिनशासन माहात्म्य प्रकाशःस्यात्प्रभावना ॥१८

अर्थ—संसारी जीवों के हृदय में अज्ञानरूप अन्धकार व्याप्त हो रहा है, जिस प्रकार भी हो सके उसे दूर करके जिनेन्द्र के शासन का माहात्म्य प्रकाश करना सच्ची प्रभा-

वना है। धार्मिक कार्यों में उन्नति करने का नाम प्रभा-वना है।

भावार्थ—अनादि काल से यह संसारी जीव, सर्वज्ञ वीतराग देव द्वारा प्रतिपादित धर्म को न जान, अपने आप को भूल रहा है। इसे पता नहीं कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया ? क्यों आया, कैसे आया ? कहाँ जाऊँगा ? मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है ? मेरा हित किस बात में है ? मेरा क्या कर्तव्य है ? मरण क्या है ? जीवन क्या है ? इत्यादि विचार रहित यह जीव मोहनीय कर्म के उदय से होरहा है। इस प्रकार के अज्ञान रूप अधकार को स्या द्वाद रूप जिनागम के प्रकाशद्वारा दूर करके निज स्वरूप तथा पर स्वरूप का भेदानुभेद प्रकाश करना प्रभावना अङ्ग है। जिन धर्म की प्रभावना दान देने से, घोर दुर्द्धर तपश्चरण करनेसे, शील संयम पालने से, निर्लोभता से, विनय से, हर्ष तथा उत्साह पूर्वक जिनेन्द्र प्रभु के अभिषेक पूजन करने से तथा धर्म तत्त्वके प्रचार करने से बढ़ती है।

जैनियों के निर्मल आचरण, दान, तप, शील भावना विनय, क्षमा, दया, अहिंसा, भक्ति, श्रद्धान, उनकी विद्वत्ता, निष्कपटता, निर्भीकता, मैत्री भाव, सहनशीलता, करुणा और परोपकार के भाव इत्यादि गुणों को देखकर अन्य मतावलम्बी भी प्रशंसा करें और कहें कि "धन्य है इनके धर्म को, इनके आचरण को, प्राण जाते हुए भी यह अपने व्रत को भंग नहीं करते, इनका जीवन अनुकरणीय है।" इसका नाम प्रभावना है।

प्रभावना अङ्ग का धारक सम्यग्दृष्टि अनीति के धन की कभी

वाञ्छा नही करता, अन्याय के विषय भोगों को स्वप्नमे भी ग्रहण नही करता, वह कोई भी ऐसी क्रिया नहीं करता जिससे जिन धर्म की निन्दा होती होवे, उसके कुल का, धर्म का तथा सहधर्मियों का या दान शील तप व्रतादि का अपमान होता हो, उसकी प्रवृत्ति ही ऐसी होती है कि जिससे धर्म की प्रशंसा और उज्जलता ही उज्जलता प्रगट होती है, धर्म के दूषण लगने का उसे बड़ा भय होता है। धर्म की उन्नति करने का सतत् प्रयत्न करना वह अपना मुख्य कर्तव्य समझता है। जिस प्रकार हो अन्य प्राणी सत्यधर्म से प्रभावित होकर सत्य को धारण करे ऐसा उद्यम करता कराता रहता है।

ऐसे सम्यक् के आठ अंगों का वर्णन किया गया इन अष्ट अगों के समुदाय का नाम ही सम्यक्दर्शन है, अंगी अंगों से भिन्न नही होता अगो के समूह की एकता ही तो अगी है।

तावदञ्जन चौरोऽङ्गे ततो अनन्तमतिः स्मृता।
उद्दायन स्तृतीयेऽपि तुरीये रेवतीमता ॥१६॥
तो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो वारिषेणस्ततः परः।
विष्णुश्च वज्रनामाच शेषयोर्लक्ष्यतां गतौ ॥२०

अर्थ—पहले निशंकित अंग में प्रसिद्ध हुये अंजन चोर

दूसरे निकांछित "	"	अनन्तमतिसेठपुत्री
तीसरे निर्विचिकित्सा	"	उद्दायन राजा
चौथे अमूढदृष्टि	"	रेवती रानी

पंचम उपगूहन अङ्ग में प्रसिद्ध हुए जिनेन्द्रभक्त सेठ
छठे स्थितिकरण " वारिषेण राजपुत्र
सप्तम वात्सल्य " विष्णुकुमार मुनि
अष्टम प्रभावना " वज्रकुमार मुनि

इन की कथाये प्रथमानुयोग के शास्त्रो मे प्रसिद्ध है वहाँ से जान लेनी चाहियें। (पुण्यास्रव कथाकोष मे देखे)

नाङ्गहीन मलं छेत्तुं दर्शनं जन्म सन्ततिम्।
न हि मंत्रोऽक्षर न्यूनो निहन्ति विष वेदनाम्॥२१

अर्थ—जैसे अक्षर हीन मंत्र, विष की वेदना को हरण नहीं कर सकता; वैसे ही अङ्गहीन सम्यक्दर्शन संसार की परिपाटी को छेदने में असमर्थ होता है।

आपगासागर स्नानमुच्चय: सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते॥२२॥

अर्थ—जो मिथ्यादृष्टियों के देखादेखी नदी स्नान में धर्म मानते हैं, समुद्रस्नान में धर्म मानते हैं, बालूरेत का या पत्थर की कंकड़ों का पुंज बनाकर उसके पूजने में धर्म मानते हैं, पर्वत से गिर कर या अपने शरीर को अग्नि में झोंक कर प्राण दे डालने में धर्म मान बैठते हैं। वह लोग मूढ कहलाते हैं। सम्यक् दर्शन इस प्रकार की लोक मूढता से रहित होता है।

भावार्थ—केवल स्नान मात्र से अपने आपको पवित्र मानना भ्रम है। आत्मा अमूर्तिक है। शरीर मूर्तिक है। शरीर स्वभाव से ही अशुचि है नित प्रति नव मल द्वारों से मल झिरता है। ऐसे शरीर की शुद्धि मानना ऐसा ही है जैसे मल से भरे हुए घड़े को केवल ऊपर से धो डालने पर शुद्ध कहना है। जिस पवित्र जल मे स्नान करते है वह जल ही इस शरीर के स्पर्श से मलिन हो जाता है। यदि नदी के जल से ही शरीर पवित्र होता हो तो मेंढक, कछुआ, मछली आदि जल जन्तुओं तथा जल मे कार्य करने वाले खेवटिया और गोताखोरों को तो सहज ही मुक्ति मिल जाती। परन्तु ऐसा नही है। यदि ऐसा होवे तो दान, पूजा परोपकार आदि सब ही शुभ क्रियाएँ निष्फल हो जावे। शुचि दो प्रकार की होती है। अंतरंग शौच तथा बहिरंग शौच। अतरंग शुचि तो कर्म मलकलंक के दूर होने से ही होती है। इसका साधन सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र तथा सम्यक् तप है। या इनके धारक साधुओं की पूजा उपासना है।

व्यवहार शुचि कई प्रकार से होती है जैसे काल शौच, अग्नि शौच, भस्मी शौच, मृतिका शौच, गोमय शौच, जल शौच, पवन शौच, ज्ञान शौच, निश्चय से तो यह शौच भी शरीर को पवित्र करने मे समर्थ नही है। परन्तु लौकिक व्यवहार मे इनके द्वारा शौच मानी जाती है। लौकिक शौचसे परिणामों की ग्लानि मिटती है। आत्मा की शुद्धि के लिये परमात्मारूपी तीर्थ मे सम्यक्ज्ञान रूप निर्मल जल भरा हुआ है, दैदीप्यमान सम्यक् दर्शन रूप उसमे लहर है। अक्षय अनंत अध्यात्मिक सुखरूप

शीतलता है। समस्त पापों का नाश करने वाला है। ज्ञानी पुरुष ऐसे ही तीर्थ में स्नान किया करते है, मुनीश्वर का शरीर रत्नत्रय के प्रभाव से महापवित्र होता है। तथापि बहिरंग शुद्धि के लिए कमण्डल रखते है। स्वाध्याय करने से पहिले हाथ पाँव धोते है और धीरे २ जलधारा देकर अपने पांवों को धोते है फिर भोजन करते है। लौकिक शुद्धि, आत्म शुद्धि तथा परिणामों की उज्वलता के लिए एक बडा निमित्त है। परन्तु केवल बहिरंग शुद्धि मे ही धर्म मान बैठना एकान्त है. और मिथ्यात्व है। बालू का पिंड बना कर पूजने मे, पर्वत से पडकर प्राण देने मे, अग्नि में जलकर सती होने मे धर्म मानना लोकमूढता है।

ग्रहण मे सूतक मानना, हिंसक चांडाल आदि को धर्म बुद्धि से दान देना, सक्रांति मान दान देना, कुआ, पीपल पूजना, रुपया पैसा आदि लक्ष्मी का पूजन करना, ग्रहों का दान देकर अपने दुःख का दूर होना मानना, यह सब लोक मूढ़ताएँ है। योग्य अयोग्य, सत्य असत्य, हित अहित, आराध्य अनाराध्य के विचार रहित अज्ञानी मिथ्यादृष्टि लौकिक जनों जैसी प्रवृत्ति करना लोक मूढ़ता है। कितने ही बहिन भाई केवल स्नान कर रसोई करने में, भोजन जीमने मे अपनी पवित्रता और शुद्धता मान बैठते है और इसी को परमधर्म समझते हैं, भक्ष्य अभक्ष्य तथा हिंसादिक का विचार नही करते है। यह सब लोक मूढ़ता है, गृहस्थियों को व्यवहार-शुद्धि करना शास्त्रोक्त है। पूजन करना, शास्त्र स्वाध्याय करना, अभिषेक करना, पूजन की सामग्री बनाना, गृहस्थियों के लिए इन कामो मे शुद्धि करना उचित है। इसलिए बहिरंग शुद्धि

तथा अंतरंग शुद्धि के वास्तविक स्वरूप को समझ कर शास्त्रोक्त विधिपूर्वक करना एक सम्यक् दृष्टि गृहस्थ का कर्त्तव्य है ।

वरोपलिप्सयाशावान्, रागद्वेष मलीमसाः ।
देवता यदुपासीत, देवतामूढमुच्यते ॥२३॥

अर्थ—किसी फल की इच्छा करके तथा अपने इच्छित वर की पूर्ति होने की आशा से राग द्वेष काम आदि मल संयुक्त देवता की आराधन करना देवमूढ़ता है ।

भावार्थ—ससारी जीव लोभ, तृष्णा के वशीभूत हुए राज्य सपदा, स्त्री पुत्र, वस्त्राभरण, धन धान्य, वाहन, ऐश्वर्य आदिकी वाँछा किया करते हैं । इनकी प्राप्ति के अर्थ रागी द्वेषी देवी देवताओं की अनेक प्रकार से भक्ति सेवा किया करते है । राज्य सुख सपदा आदिक साता वेदनीय कर्म के उदय से मिलती है । लाभ लाभातराय कर्म के क्षयोपशम से होता है । जब तक अतराय कर्म का उदय है, भोगादिक की सामग्री प्राप्त नही होती । ससार मे कोई देव या कोई देवता किसी को सुख या दुःख देने मे समर्थ नही । संसार मे जीवो के सुख दुख सब पुण्य कर्म तथा पाप कर्म के उदय से होते है । कोई देवादिक धन, आजीविका स्त्री पुत्रादिक देने मे समर्थ नही है । जो सुख के इच्छुक है उन्हे दया-क्षमा संतोष, निर्वाछकता, मन्दकषाय, वीतराग परिणाम रूप धर्म की ही आराधना करना योग्य है । सच्चे वीतरागी हितोपदेशी तथा सर्वज्ञ देवकी ही आराधना करना हितकारी है

साग्रंथारंभहिंसानां, संसारावर्तवर्तिनाम्।
पाखण्डिनां पुरस्कारो,ज्ञेयं पाखण्डि मोहनम्॥२४

अर्थ—परिग्रही आरंभी तथा हिंसा में प्रवृत्ति करने वाले तथा संसार में परिभ्रमण कराने वाले मिथ्यात्व रूप क्रियाओं में तल्लीन पाखण्डियों की प्रधानता मानना तथा उनके वचनों का आदर कर उनकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करना गुरु मूढ़ता है।

भावार्थ—निर्ग्रंथ गुरु को छोड़कर पाखण्डी, वेषधारी, इन्द्रिय विषय लम्पटी, धूर्त गुरुओं को नमस्कार करना गुरु मूढ़ता है। जो गुरु अज्ञानी है, परिग्रही है, आरंभी है, आपको पूज्य धर्मात्मा मान, अन्य भोले भाले जीवों द्वारा अपनी पूजा प्रतिष्ठा कराते हैं, हिंसा के कारण बढ़ाने वाले उपदेश देते हैं। जिनके नाना प्रकार के भोजनों में लम्पटता बना रहता है, जो कुकथा करने में प्रवीण है,आत्मध्यान से वंचित दुर्ध्यानी है। मंत्र यंत्र तंत्र जप होम, मारन, उच्चाटन वशीकरणादिक का साधन करके अपनी महन्तता चाहते हैं। भोले भाले संसारी जीवों को धोखा देकर अपने फन्दे में फसाना चाहते हैं, वह सब पाखंडी हैं। ऐसे पाखंडियों के वचन को प्रमाण कर उनका आदर सत्कार करना, उनको धर्म गुरु तथा धर्माचार्य बनाना गुरु मूढ़ता है। सम्यक् दृष्टि के (१) लोक मूढता, (२) देव मूढता तथा (३) गुरु मूढ़ता यह तीनों ही नहीं होती। वह सब कार्य विचार पूर्वक

धर्म बुद्धि से ही किया करता है ।

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपोवपुः ।
अष्टा वाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः २५

अर्थ—मानकषाय के जीतनेवाले श्रीजिन भगवान् ने मद आठ प्रकार का बताया है । (१) ज्ञान मद (२) पूजामद (३) कुलमद (४) जातिमद (५) बलमद (६) ऋद्धिमद (७) तपमद (८) शरीरमद यह अष्ट प्रकार मद सम्यक् दृष्टि के नहीं होता है । उसके कैसे होवे ? उसके तो सत्यार्थ चिन्तवन होता है ।

भावार्थ—संसारी जीव अनादि काल से मिथ्यात्व के उदय से पर्याय बुद्धि हो रहा है, जातिकुल, विद्या बल, ऐश्वर्य रूप, तप धन, आदि को अपना निज रूप मान गर्व किया करता है, वह अज्ञानवश यह नहीं जानता कि यह सब कर्म के आधीन पुद्गल के विकार है, विनाशीक है, क्षण भंगुर है। सम्यक्दृष्टि विचारता है कि ऐसे विनाशीक, क्षण भंगुर पदार्थों का गर्व करना संसार परिभ्रमण का कारण है ।

ज्ञानमद्—इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है, सम्यक् दृष्टि उसका गर्व कैसे करे, यह ज्ञान ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के आधीन है, इन्द्रियों के आधीन है, बात पित कफादि के आधीन है । इन्द्रियों के बिगड जाने पर यह जाता रहता है । दिल, दिमाग आदि के खराब हो जाने पर यह ज्ञान क्षणमात्र में विपरीत

हो जाता है—निगोद मे यह जीव अक्षर के अनन्तवे भाग ज्ञान सहित था। इकेन्द्रिय पर्याय मे जडरूप पाषाण, जल वृक्ष आदि होकर असंख्यात काल अज्ञानी सा ही रहा, यदि विकलत्रय मे गया तो हित अहित की शिक्षा बिना रहा। व्यंतरादिक, अधम देवो मे भी हुआ तो वहा भी मिथ्यात्व के कारण भेद विज्ञान का अभाव होने से अनन्त काल तक संसार ही मे भ्रमण करता रहा। मनुष्य गति मे भी विचित्र दशा है, यदि किन्ही बिरले मनुष्यों का ज्ञानावरण के क्षयोपशम से तीक्ष्ण ज्ञान हो भी जाता है तो उनमे से कोई तो नीच कर्मो मे प्रवृत्ति करते है। हिंसा के अनेक उपकरण बनाने मे ही अपनी चतुराई तथा प्रवीणता समाप्त कर देते है। कोई ज्ञान द्वारा नाना प्रकार के बन्दूक, तोप, गोले, बारूद मशीनगन (Machine guns) जंगी हवाई जहाज़, तथा घातक विषैली गैसें तय्यार करने वाली विद्याओ मे प्रवीणता प्राप्त करके अपने ज्ञानमद मे मस्ताने हुवे निर्दोष ग्राम, देश आदि के विध्वंस कर डालने मे ही प्रवीण होते है। कोई अपने ज्ञान बल द्वारा दूसरे भोले भाले जीवों का धन दौलत लूटने मे, डाके मारने मे, प्राण हरने मे प्रवीण होते है, कोई अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के कारण भोले भाले प्राणियो पर अपना प्रभुत्व जमाने मे उनका तिरस्कार करने मे, झूठे को सच्चा कर देने मे तथा झूठ को सच्चा कर दिखाने मे, धन और प्राण दोनों के हरण कर लेने मे प्रवीण होते है। कोई दूसरों की चुग़ली करके, शिकायत करके, दूसरों के घर, धरती,आजीविका आदि विनष्ट करा देने मे दूसरो को जुर्माना क़ैद, फांसी आदि की सज़ा दिला कर उनके प्राणान्त करा देने मे

प्रवीण होते है, कितने ही शिल्पकला आदि मे प्रवीणता प्राप्त कर गर्व के वशीभूत हो गये, अन्त मे मरण को ही प्राप्त हुवे, कितने ही अनेक छन्द अलंकार, व्याकरण, काव्य, एकान्त रूप न्याय विद्याके ग्रन्थ बना कर गर्व करने लगे और आत्म ज्ञान रहित होने के कारण संसार मे ही परिभ्रमण करते रहे कितने ही अपने को जिनेन्द्र भगवान् का अनुयायी कहते हुवे भी मिथ्यात्व के तीव्रोदय से धर्म विरुद्ध क्रियाएँ कर अपने को कृतार्थ मान बैठते है। ऐसा २ ज्ञान प्राप्त करके भी मिथ्यात्व के प्रभाव से कर्म बन्ध तो अधिक २ ही किया, भव भ्रमण से नही छूट सके। ऐसे ज्ञान से क्या लाभ? ऐसा विचार करते हुवे सम्यक् दृष्टि अपने को कहता है श्रुतज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से जो थोड़ा बहुत ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ है इस का मद क्या करूं, मेरा कर्तव्य तो अब यह है कि निज पर तत्व के स्वरूप को अच्छी तरह जान कर अपने आत्मा को विषय कषाय आदि से रहित करके परम समता धारण करूँ, और अनादि काल से लगे संसार परिभ्रमण का अभाव कर डालने का भरसक प्रयत्न करूँ।

प्रभुतामद—ऐश्वर्य का मद सम्यक् दृष्टि के नहीं होता-वह तो प्रभुता तथा राज्य ऐश्वर्य आदि को अपना स्वभाव मानता ही नहीं, वह जानता है कि यह कर्म जनित है, विनाशीक है, पराधीन है, दुर्गति मे लेजाने वाला है, मेरा-निज ऐश्वर्य तो अक्षय अविनाशी, अखंड आनन्दमय है, अनन्त ज्ञान दर्शनमय है और अनन्त शक्ति रूप है। यह कर्म जनित ऐश्वर्य तो कलह का मूल वैर का कारण, क्षण भंगुर परमात्म स्वरूपको भुला देने वाला

अनेक जीवों का घातक, तृष्णा की दाह को प्रज्वलित करने वाला दुख रूप है। क्षण मात्र में मेरी यह विभूति विलय हो जावे तो रंक हो जाऊँ, कोई बात तक न पूछे। कितने ही अनेक चक्रवर्ती आदि इस ससारी सपदा को "मेरी मेरी" कहते हुवे नष्ट हो गये मेरा शरीर ही अपना नहीं, अन्य द्रव्य मेरा कैसे हो सकता है ? कर्मोदय से इस ऐश्वर्य को पाकर गर्व क्या करूं, इससे तो दान देना, शीलसयम पालना, पर जीवों का उपकार करना ही मेरा कर्तव्य है। ऐश्वर्य पाकर निरभिमान रहना, वाञ्छा रहित होना, समता भाव धारण करना, प्राणीमात्र से मैत्री भाव रखना, उनकी यथा योग्य विनय करना ही मेरे लिये शुभ गति का कारण है। ऐसा दृढ श्रद्धान रखते हुवे सम्यक् दृष्टि ऐश्वर्य का मद नहीं करता है दूसरे जीवों को दीन हीन दुःख पीडित तथा अशुभ सामग्री सहित देख कर उनकी अवज्ञा, उनका अपमान या तिरस्कार करने का भाव तक भी अपने दिल में नहीं लाता। करुणा बुद्धि से उनके दुःख संकट दूर करने का ही भरसक प्रयत्न किया करता है।

कुलमद—पिता का वंश कुल कहलाता है। सम्यक् दृष्टि विचारता है—मेरी आत्मा तो अखंड ज्ञानस्वरूप है। इसके कोई कुल नहीं। अनादि काल से भ्रमण करते हुए इस पर्याय में यदि उत्तम कुल पा भी लिया तो इसका गर्व क्या करना। अनन्त बार नारकी हुआ, अनेक बार तिर्यंच हुआ। अनेक बार संसार में नीच कहलाने वाले कुलों में उपजा। यदि शुभ कर्मोदय से संसार में उच्च मानी जाने वाली जाति में जन्म भी हो गया तो उसका

गर्व करना महा मूर्खता है, उत्तम कुल पाने का मान क्या करे ? उसमें तो कर्त्तव्य यह है कि रत्नत्रय धर्म का पालन करे, नीच अधम आचरण का त्याग करे, विवेक से काम लेवे। कलह विसंवाद, मारन-ताडन, गाली गलौच, भंड वचन बोलना हमे उचित नहीं। जूवा, वेश्या सेवन, परधन हरण, निंद्य तथा हिंसक कर्म द्वारा आजीविका कमाना उच्च कुल मे योग्य नही। उच्च कुल मे जन्म लेकर असत्य नहीं बोलना, छल कपट नहीं करना, मांस मदिरा आदि का सेवन नहीं करना, अपने चरित्र को उज्ज्वल रखना भावों को शुद्ध रखना ही अपना कर्त्तव्य है। यदि अब भी निंद्य कार्य किया तो धिक्कार है मेरे जीवन को ऐसा विचार करते हुए सम्यक् दृष्टि कुल का मद नही करता।

जाति मद—माता के पक्ष को जाति कहते हैं, सम्यक् दृष्टि के जाति का भी गर्व नहीं होता। वह विचारता है अनेक बार निगोदमे उत्पन्न हुआ, संसार-भ्रमण मे अनेक बार नीच जाति पाई, अनेक बार उच्च जाति पाई। जातिकुल मे ठहरना कितने दिन है, जाति तो पुन्य पाप कर्म का फल है। जिसने नीच जाति में जन्म लिया उसका तिरस्कार कैसा, और जो उच्च मे उत्पन्न हुआ वह मदोन्मत्त क्यों हो ? जाति और कुलको विनाशीक और कर्माधीन जानकर शाल पालने मे, क्षमा धारण मे, स्वाध्याय मे, परोपकार मे, दान में, विनय मे, प्रवृति करके जाति का उच्चपना सफल करो। जाति का मद करके संसार मे नष्ट मत हो।

बलमद—सम्यक्दृष्टि विचारता है, यद्यपि मैं अनन्त बल का धारी हूँ तथापि अनादि काल से कर्म शत्रु ने मेरे बल

को नष्ट करके मुझे ऐसा दीनहीन बना रक्खा है कि जगत में ठोकरें खाता हुआ भ्रमण कर रहा हूँ। इस समय वीर्यांतराय कर्म के कुछ क्षयोपशम से यदि मेरी आत्मा मे कुछ बल प्रगट हुआ है तो इस शरीर के द्वारा तपश्चरण करूं, व्रत-उपवास, शील-संयम, स्वाध्याय करूं। कर्मोदयसे यदि कोई उपसर्ग आता है, उसको धैर्य के साथ सहन करूं। परिषह से चलायमान न होऊं, रोग, दरिद्रादिक के आजाने पर कायर नहीं होऊं, दीनताको पास न फटकने दूं, यदि ऐसा करता हू तो मेरा बल पाना सफल है। दीन दारिद्री असमर्थ पुरुषों के दुष्ट बचनों को सुनकर समर्थ होते हुए भी क्षमा ग्रहण करूं, आत्म विशुद्धता के प्रभाव से दुर्जय कर्मों का संहार कर क्रम से अनन्त बल को प्राप्त करूं। अपने स्वाधीन अविनाशी पद को प्राप्त करूं। यदि शारीरिक बल को पाकर निर्बलों का घात करू असमर्थों का धन, धरती, स्त्री, आदि का हरण करू, उनका अपमान तथा तिरस्कार करू तो मेरे मे, और सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि दुष्ट घातक जीवों मे क्या अन्तर रहा, मैं भी पशु ही रहा। इसलिए शारीरिक बल को प्राप्त करके सम्यक् दृष्टि उसका मद नहीं करता।

ऋद्धि मद—सम्यक् दृष्टि धन सम्पदा पाकर उसका गर्व नहीं करता। वह तो धनको महाभार, बन्धन रूप समझता है। वह जानता है कि यह धन रागद्वेष, भय, मोह, संताप, शोक, क्लेश, बैर हानि का कारण है। मनुष्य को मदोन्मत्त बनाने वाला है। वह विचारता है कि यह लक्ष्मी मेरी नहीं है। पराधीन दुःख रूप है, वह दिन कब आवे कि मैं समस्त परिग्रह का त्याग करके अपनी

स्वाधीन, अविनाशी, अविकार ज्ञान स्वरूप आत्मीक लक्ष्मी को प्राप्त करूं। जिस समय तक निजाधीन मोक्षपदकी प्राप्ति हो उस समय तक इस लक्ष्मी के द्वारा परोपकार करूं। इसको धर्मोन्नति के कार्य में लगाऊँ। यह लक्ष्मी वेश्या के समान चंचल है, इसका क्या पतियारा? आज नीच के घर है तो कल ऊंच के है। ऐसी लक्ष्मी को पाकर मैं क्या गर्व करूं? यदि मैं गर्व करता हूँ तो मेरे समान और कोई हीन तथा निर्लज्ज नहीं।

तप मद—सम्यक् दृष्टि विचारता है तप करके मद कैसा? मद तो तप के नाश करने वाला होता है। धन्य है उन महापुरुषों को जिन्होंने घोर तपश्चरण द्वारा अष्टकर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर परमात्मा पद को प्राप्त किया, मैं क्या हूँ, कामको जीता नहीं। निद्रा, आलस्य, प्रमाद को दूर किया नहीं, इच्छाओं का निरोध करने की शक्ति नहीं। लालसा घटी नहीं, जीने की वांछा बनी हुई, मरने के भय से कम्पायमान, हानि लाभ स्तुति निन्दा में समता भाव हुआ नहीं, फिर मेरे कैसा तप? तप तो वहाँ है जहाँ इच्छाओं का निरोध है। जहाँ आतम ध्यान है जहां शुद्ध आत्मा मे तल्लीनता है। वास्तव में तप इस आत्मा के वास्तविक स्वभाव को पूर्ण रूप से प्रकाश मे लाने का एक मात्र साधन है इसका गर्व क्या करूं? जहां गर्व है वहां कर्म बंध है। जहाँ कर्म बंध है वहां आत्म-विकाश कैसा? धन्य है जिन्होने तपश्चरण द्वारा अपनी आत्मा मे पूर्ण वीतरागता को प्राप्त किया है ऐसा विचारते हुए सम्यक् दृष्टि तप का मद नहीं करता।

रूप मद—सम्यक् दृष्टि रूप का भी मद नही करता,

वह तो शरीर के रूप को रूप ही नहीं समझता, वह तो अपने अखण्डज्ञान स्वभाव को ही अपना रूप जानता है। यह शरीर ही जिसके आधीन रूप है क्षण भगुर है। यदि किसी दिन जरा खाने पीने को न मिले तो चेहरा महामलीन दीखने लगता है। रूप विनाशीक है,बुढ़ापा आने पर सब रूप जोबन भाग जाता है, यह शरीर सूगला और डरावना दिखाई देने लगता है कितना ही रूपवान क्यो न हो यदि रोग या दरिद्र आ घेरता है तो कोई पास भी नही फटकता। मनुष्य एक क्षण मे अंधा हो जाता है, एक क्षणमें कोढ़ी, लंगडा, लूला, टन्डा हो जाता है, लकवा मार जाने से मुख टेढा हो जाता है, गर्दन मुड जाती है, तथा अन्य अनेक रोग इस शरीर मे हो जाते हैं जिनसे रूप क्षणमात्र मे नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। रूप का गर्व करना व्यर्थ है—सुन्दर रूप को पाकर शील मे दूषण नही लगाना, दीन, दरिद्री, दुःखी, अंगहीन, कुरूप, मलीन मनुष्यों को देखकर उनमें ग्लानि नही करना, उनका तिरस्कार नही करना, सम्यक् दृष्टि अपना धर्म समझता है।

इस प्रकार सम्यक् दृष्टि दर्शन के घातक इन आठ मदो को स्वप्न मे भी अपने पास फटकने नही देता।

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना२६

अर्थ—यदि कोई गर्वीला (मानी) पुरुष गर्व के वशीभूत होकर धर्म के पालन करने वाले और धर्मात्मा पुरुषों का तिरस्कार करता है तो वह अपने धर्म का ही तिरस्कार

करता है, क्योंकि धर्मात्मा पुरुषों को छोड़ कर धर्म और कहां पाया जाता है ? इसलिये जिसने ऐश्वर्य विभूति रूपादि का अभिमान् करके धर्मात्माओं का तिरस्कार किया उसने अपने धर्म का ही तिरस्कार किया ऐसा समझना चाहिये।

भावार्थ—संसार मे प्रत्यक्ष देखने मे आता है कि जिसके पास ज़रा भी धन हो जाता है, जिसको ज़रा भी किसी विभूति की प्राप्ति हो जाती है, वह उसके मद में मतवाला हो जाता है अपने समान किसी को समझता नहीं, वह विचारने लग जाता है कि मन्दिर क्या, देवालय क्या, गुरु क्या और धर्म क्या ? यह सब तेरे ही आश्रयभूत हैं, तेरे ही जिवाये जीते हैं, तेरे ही चलाये चल रहे हैं, तेरे मे कुछ दोष भी हैं तो क्या कोई पूछने वाला है, अनेक प्रकार के पापाचरण करते हुवे भी अभिमान के वशीभूत होकर कुछ द्रव्य उनके सम्बन्ध मे खर्च करके अपने को धन्य समझता है—धन के नशे मे वह ऐसा अन्धा हो जाता है कि वह संसार मे धन ही सब से बड़ा है-हमारे धन के प्रभाव मे अच्छे२ बड़े २ विद्वान् आप हमारे पीछे २ फिरते है-जहाँ हम चाहे और जिस समय और जिस प्रकार हम चाहे हमे शास्त्र सुनाने को तय्यार हैं, अच्छे २ उपदेशक, भजनीक तथा व्याख्यानदाता हमारे साथ हर समय चिपटे रहते है, त्यागी तपस्वी भी हमारे ही घर भोजन आहार करने को आते हैं, इस प्रकार सारा ही धर्म और सर्वगुण हमारे ही धन के आधीन है अपने धन के ग़रूर में ग़लतान हुआ धर्म और धर्मात्माओं की अवज्ञा करता है, वह नहीं समझता कि आत्म ज्ञानी, परमार्थी, परम संयमी, सन्तोषी

महात्मा तो चक्री की सम्पदा, इन्द्र की विभूति को भी तुच्छ और दुःखरूप ही समझते हैं, वे तो ऐसे धनाढ्यों और धनवानों का समागम स्वप्न तक मे भी नही चाहते। मानी, धनवान, दीन, हीन दुःखी दरिद्री जीवों को भी करुणा बुद्धि मे दान नहीं देता उनको दूर से ही दुदकारता है, हां यदि कहीं कोई पदवी राज्य दर्बार से मिलती हो या किसी सरकारी अफसर मे खुशामद करके कोई काम निकालना हो तो झट से चन्दा आदि देकर अपने को धन्य मानता है। ऐसे पुरुष ससार मे ही परिभ्रमण किया करते है।

इस से विपरीत जो धन संपदा को पाकर वस्तु स्वरूप का विचार करते हुये, इसका मान नही करते हैं कि यह धन कोई हमारा निज स्वरूप तो नही है, किसी पूर्व पुन्योदय मे हमें इसकी प्राप्ति हुई, यह विनाशीक है, क्षण भंगुर है, वेश्या के समान अति चंचल है,इसका क्या पतियारा है आज पुण्य संयोगमे यदि हमारे पास है तो कल और के पास है, इसका यदि मैं सदुपयोग करूं तो अच्छा है। इससे किसी का उपकार करूं, दीन दुःखी दरिद्री जीवों के दुःख और सकट हरूँ, दीन हीन जीवों का कल्याण करूँ साधर्मी श्रद्धानी, ज्ञानी जीवों के दुःख, संताप शोक आदि को मिटाऊँ। यदि मेरे पास पुण्योदय से यह विभूति न आती, यदि मैं भी इनकी भांति दारिद्री होता तो मेरे पास कौन आता और कौन मेरे से उपकार चाहता ? इस समय मेरा कर्त्तव्य है कि आश्रय भूत जीवों का पालन पोषण करूँ, बूढ़ों, बालकों, रोगी, दुःखी अनाथों तथा अबला विधवाओं और असमर्थों का उपकार

करने मे अपने द्रव्य को लगाऊँ। लक्ष्मी साथ कोई लाया नहीं, साथ कोई ले जाता नही, सदा किसी के ठहरी नहीं, न ठहरती है और न ठहरेगी, इसलिये यदि इसे प्रभु के अहिंसामय धर्म के प्रचार और प्रभावना मे, ज्ञानाभ्यास के बढ़ाने मे, पूजन, ध्यान अध्ययन तप शील द्वारा ससार उद्धार करने के कार्य मे खर्चू तो मेरा जन्म सफल है। दान से ही परभव मे सुख और सम्पदा की प्राप्ति जीव को होती है, जो सम्पदा मै अपने हाथ से परोपकार के निमित्त दे डालता हूँ वही मेरी है अन्य नहीं। इस प्रकार एक सम्यक् दृष्टि पाप रहित जनों को और निर्धन रोगी दुःखी मनुष्यो को देख कर उनकी अवज्ञा नही करता। धन देकर उनका दुःख मेटता है, धर्म मार्ग मे लगाने वाले तथा धर्म कार्य मे द्रव्य खर्च करवाने वाले को देख बड़ा आनन्द मानता है, धर्म साधन करने वालो के साथ सम्मिलित होकर धन के भोगने मे आनन्द मानता है।

यदि पाप निरोधोऽन्य संपदा किं प्रयोजनं।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्य संपदा किं प्रयोजनं ॥२७

अर्थ—एक सम्यक्दृष्टि विचार करता है कि यदि मेरे ज्ञानावरणादि अशुभ पाप प्रकृतियों का आस्रव रुक गया तो इसके अतिरिक्त मुझे और किसी संपदा से क्या प्रयोजन? और जो मेरे पाप का आस्रव बराबर बना रहे (जारी रहे) और धन संपदा आती रहे तो इस से क्या प्रयोजन?

भावार्थ—सम्यक् दृष्टि विचारता है कि यदि मेरी त्याग तथा संयम रूप प्रवृत्ति से पाप कर्म का आस्रव रुक गया तो अच्छा है और इन्द्रिय विषयों की संपदा राज्य ऐश्वर्य आदि विभूति की मुझे प्राप्ति हुई तो क्या हुआ। यह संपदा क्षण भंगुर है, यह संपदा प्राप्त हो गई और अन्याय अनीति कपट छल चोरी आदि से मेरे पाप कर्म का आस्रव निरन्तर होता रहा तो इस लक्ष्मी ने मेरी क्या सहायता की। मुझे नरक तिर्यंचादिक के दुःख भोगने पड़ेंगे। और यदि आस्रव रुक गया तो मुझे निर्वाण संपदा की परम्पराय से प्राप्ति होगी जो अक्षय है,अविनाशी है। ऐसा विचार करके सम्यक् दृष्टि पराधीन, विनाशीक बंध का कारण इन्द्रिय सम्बन्धी विषय भोगों की पूर्ति करने वाली धन संपदा आदि मे लिप्त नहीं होता।

छः अनायतन का स्वरूप ऐसा समझिए, कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र और कुदेव का श्रद्धान या सेवन करने वाला, कुगुरु की भक्ति करने वाला और कुशास्त्र का पढ़ने वाला यह धर्म के आयतन अर्थात् स्थान नहीं है, इनकी भक्ति करने से मोक्ष मार्ग की प्राप्ति नहीं होती। सम्यक्दृष्टि तीन मूढ़ता, आठ मद, आठ शंकादिक दोष, छः अनायतन इन पच्चीस दोषों का त्याग कर व्यवहार सम्यक् दर्शन को धारण करके निश्चय सम्यक् को प्राप्त करता है। जिसके उपर्युक्त पच्चीस दोष रहित आत्मा का श्रद्धान भाव होता है उसही के नियम पूर्वक निश्चय सम्यक् दर्शन होता है। जिसके वहिरंग दूषण ही दूर नहीं होते उसके अंतरंग सम्यक् दर्शन भी शुद्ध नहीं होता।

सम्यक्त्व तीन प्रकार का होता है—

उपशम सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षयोपशम सम्यक्त्व। इनके विशेषभेद और उत्पत्ति का वर्णन जानने के लिए श्रीगोमट्टसारजी तथा श्री लब्धिसारजी आदि ग्रन्थों की स्वाध्याय कीजिए। सम्यक्दृष्टि के नीचे लिखे आठ बाहरीगुण प्रगट होते है। इनसे सम्यक्त्व की पहिचान होती है।

१. संवेग—धर्म मे अनुराग होना। सम्यक्दृष्टि अन्याय के विषय शृंगार, विकथा, पापमय संगति, स्त्री पुत्र धन आदिक लौकिक विभूति से अनुराग नहीं करता। उसको दशलक्षण धर्म मे, धर्मात्मा पुरुषों की संगति मे, धर्मकथा मे तथा धर्म के आयतन मे अनुराग होता है।

२. निर्वेद—सम्यक्दृष्टि पंच परिवर्तनरूप संसार से, कृतघ्न शरीर से, दुर्गति मे ले जाने वाले विषयभोगों से स्वभाव से ही उदासीन होता है।

३. आत्मनिन्दा—मनुष्य जन्म मिलना कठिन है, यदि एक क्षण मात्र भी मेरे जीवन का धर्म-साधन बिना जाता है तो यह बड़ा अनर्थ है। यदि किसी समय उसके प्रमाद आ जाता है, या असंयमरूप भाव हो जाते है तो वह अपनी दूषित प्रवृत्ति को विचार कर अपने मन मे अपनी निन्दा करता है।

४. गर्हा—अपने गुरु तथा विशेष ज्ञानी साधर्मी जनों के निकट नियम सहित अपने निंद्य आचरण तथा दोषादिक को प्रगट करना गर्हा नाम गुण है।

५. उपशमगुण—कषाय की मंदता होना, राग द्वेष, काम, उन्माद, शत्रुता को निज स्वरूपका घातक जान इनको मंदतर करना, शान्त परिणामी होना उपशम गुण है।

६. भक्तिगुण—पंच परमेष्ठी मे, जिनवाणी मे, जिनेन्द्र के प्रतिबिंब मे, दशलक्षण धर्म मे, धर्म के धारक धर्मात्माओं मे, तपस्वियों में उनके अनेक गुणों का स्मरण कर उनके गुणों से अनुराग करना भक्ति नामा गुण है।

७. वात्सल्य—धर्मात्माओं से गौ बच्छे के समान प्रीति करना, धर्मोपदेशको सम्यक्ज्ञानी के द्वारा सुनकर आनन्द मानना तथा गुणीजनोंको देखकर अत्यन्त हर्ष प्रगट करना वात्सल्य नामा गुण है।

८. अनुकंपा—सम्यक् दृष्टिके स्वभाव से छः काय के जीवों की रक्षा का भाव होता है। दूसरे जीवों के दुख को देख अपने परिणामों मे दया भाव का होना, दूसरों के दुखों के मेटने का भाव होना अनुकंपा है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक गुण सम्यक्दृष्टि के स्वयम् प्रगट हो जाते है। जिनको सत्यार्थ श्रद्धान और ज्ञान प्राप्त हो जाता है उनके सब ही बाह्य गुण भी अभ्यंतर रूप होकर परिणमन किया करते हैं।

सम्यग्दर्शन संपन्नमपि मातंग देहजं।
देवादेवं विदुर्भस्म गूढाङ्गारान्त रौजसं ॥२८॥

अर्थ—सम्यक्दर्शन संयुक्त चांडाल के शरीर से

उत्पन्न हुवे चांडाल को भी गणधर देव "देव" कहते हैं। जैसे भस्म (राख) से ढके हुवे अङ्गार के मध्य में प्रकाशमान तेज होता है।

भावार्थ –चांडाल माता पिता से उत्पन्न एक चांडाल यदि सम्यक्दर्शन कर सहित है तो उसे भगवान् गणधर देव "देव" ही कहते है। हड्डी मांस का बना यह शरीर यदि चांडाल माता पिता के रज वीर्य से उत्पन्न होता है, तो इस शरीर को चांडाल कह देते हैं, परन्तु जब उसके अन्तरङ्ग मे उसका आत्मा दिव्यगुण सम्यक्दर्शन से दीप्तिमान हो रहा है तो अपने उस उत्तम गुण के प्रभाव से वह "देव" ही कहलाता है। राख से ढका हुवा अंगारा जैसे अन्तरङ्ग मे, अपने तेजके कारण झकझकाट करता है ठीक वैसे ही एक सम्यक् दृष्टि भी बहिरंग मे शरीर के मलीन होते हुवे भी अपने अन्तरग के दिव्यगुण के कारण दीप्तायमान होता है। यह शरीर तो स्वभाव से अपवित्र है, मलमूत्र आदि से भरा है, इसमे नवमल द्वार से निरन्तर मल झिरता रहता है, साधुओं के शरीर मे यह बाते होती हैं, परन्तु रत्नत्रय धर्म के प्रभाव से उनका शरीर देवों द्वारा दर्शन करने योग्य, स्तवन करने योग्य, नमस्कार करने योग्य होता है। गुणके बिना कफ मल मूत्रादि से भरे चमड़े लपेटे इस शरीर से कौन ज्ञानी राग करता है, कौन इसकी बन्दना करता है, कौन दर्शन करता है ? कौन पूजा करता है ?' यह तो सम्यक्दर्शन गुण के प्रगट होने पर ही बन्दने तथा पूजने योग्य होता है।

श्वापिदेवोऽपिदेवः श्वा जायते धर्मकिल्विषात् ।
कापिनाम भवेदन्या संपद्धर्माच्छरीरिणां ॥२६॥

अर्थ—धर्म के प्रभाव से एक कुत्ता भी जाकर स्वर्ग में देव उत्पन्न हो जाता है और पाप के प्रभाव से स्वर्ग-लोक का महान् ऋद्धिधारी देव भी पृथ्वी पर कुत्ता हो जाता है। ऐसी सम्यकदर्शन की महिमा है।

भयाशास्नेह लोभाच्च कुदेवागम लिङ्गिनां ।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥३०॥

अर्थ—शुद्ध सम्यक्दृष्टि भयसे, आशासे, मोहसे तथा लोभसे कुदेव को, कुआगम (कुशास्त्र) को और कुलिंगियों को प्रणाम नहीं करता उनकी विनय नहीं करता।

भावार्थ—जिस देव में काम, क्रोध, भय, इच्छा, क्षुधा, तृषा, राग द्वेष, मद, मोह, निद्रा, हर्ष, विषाद, जन्म मरणादि दूषण पाये जाते हैं वह कुदेव है। सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी देव सच्चा देव है। हिंसा को पोषण करनेवाले, रागी द्वेषी, मोही पुरुषों द्वारा प्रतिपादित, पूर्वापर विरोध सहित, विषय कषाय, आरंभ परिग्रह को पुष्ट करने वाले, प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाण कर दूषित ऐसे सब शास्त्र कुआगम अर्थात् कुशास्त्र हैं।

जिनके हिंसादिक पांच पापों का त्याग है, जो आरम्भ परि-ग्रह से सर्वथा रहित हैं, जिनके निज शरीर से भी ममत्व नहीं है, जो उत्तम क्षमादिक दशलक्षण धर्म के धारी हैं। जो सर्व दोषों को

टाल, दीनता रहित, अयाचीक वृत्ति सहित एकान्त निर्जन स्थान मे रहते, निरन्तर ध्यान अध्ययन किया करते है पाँच इन्द्रियों के विषय भोगों के सर्वथा त्यागी है, जो छः काय के जीवो की रक्षा करने वाले है और एक बार मौन सहित अपने निमित्त से न बनाया हुआ नीरस, शुद्ध, आहार केवल रत्नत्रय के साधक शरीर की रक्षा के हेतु से ग्रहण करते है, ऐसे श्री दिगम्बर जैन मुनि का लिङ्ग (भेष)—दूसरे एक खंड वस्त्र के धारक तथा कोपीन धारक क्षुल्लक का भेष, तीसरे एक सोलह हाथ प्रमाण शुद्ध, पवित्र, सादा मोटी साड़ी की धारक अर्जिका—इन तीन लिंगों को छोड कर अन्य सब ही लिग (भेष) कुलिग है और उनके धारण करने वाले कुलिंगी कहलाते है। एक सम्यक् दृष्टि इस प्रकार मुनि, क्षुल्लक तथा अर्जिका इन तीन भेषो के सिवाय अन्य सब ही भेषधारियों को नमस्कार नहीं करता है, और ना ही उनकी विनय करता है।

कोई किसी प्रकार का भी भय, आशा, मोह और लोभ उसको कुदेव, कुशास्त्र, कुलिङ्गी की पूजा भक्ति, वंदना विनय आदि के लिये बाधित करने मे समर्थ नहीं। जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित सम्यक् चरित्र का धारक त्यागी साधु कभी ऐसे वेषधारियो के सामने हाथ नही जोडता, यदि कोई उनके शरीर के खंड खंड भी भी कर देवे तो भी वह धर्म कार्य के बिना मुख से कोई वचन नही कहते है, चाहे कितना ही दुष्ट मनुष्य म्लेच्छ राजादि महा पापी क्यों न हो, त्यागियों से तो वह भी प्रणाम वन्दना आदिक नहीं चाहता, संयमी त्यागी तो राजा को, चक्रवर्ती को, माता पिता को, विद्या गुरु को भी कदाचित् नमस्कार नही करता है। अवृति

सम्यक् दृष्टि भी जहाँ तक उसका वश चलता है कुदेव, कुगुरु, कुधर्म को नमस्कार नहीं करता। अन्य व्यवहारियो का यथा योग्य लौकिक रीति अनुसार विनय सत्कार आदि करता है यदि कोई उस पर जबरदस्ती, जोरावरी करता है तो वह देश को छोड़ना, आजीबिका को छोड़ देना, धन को त्याग देना इत्यादि बातों को तो स्वीकार कर लेना है परन्तु कुलिङ्गियों का आराधना उसे कदापि स्वीकार नहीं होती।

दर्शनं ज्ञान चारित्रात् साधिमान मुपाश्नुते ।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते ॥३१॥

अर्थ—सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्रसे बढ़कर है, क्योंकि वह सम्यक् दर्शन रत्नत्रय रूप मोक्ष मार्ग में सबसे प्रधान कहा जाता है, जैसे समुद्र को पार करने के लिये समुद्र में जहाज़ को एक खेवटिया ही पार लेजाने के कार्य में दक्ष और समर्थ होता है, वैसे ही संसार समुद्र में रत्नत्रय रूप जहाज को पार ले जाने में सम्यक् दर्शन ही एक समर्थ खेवटिया है। सारांश रत्नत्रय में सम्यक् दर्शन ही सर्वोत्कृष्ट है—

विद्या वृत्तस्य संभूति स्थिति वृद्धि फलोदयाः ।
न संत्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ।३२।

अर्थ—ज्ञान और चरित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और इनके फल का उदय सम्यक् के बिना नहीं होता है,

जैसे बीज का अभाव हो जाने से वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति वृद्धि और फल का उदय नहीं होता है।

भावार्थ—ठीक ही है जब बीज ही नहीं तो वृक्ष कैसा ? जब वृक्ष नहीं तो स्थिति काहे की ? और वृद्धि किसकी ? फल का उदय कैसे होवे ? ठीक इसी प्रकार सम्यक् दर्शन के अभाव में सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र नहीं होता। सम्यक्त के बिना ज्ञान कुज्ञान और चारित्र कुचारित्र ही है। जब सम्यक् दर्शन के बिना सम्यक् ज्ञान चारित्र की उत्पत्ति ही नहीं तो उनकी स्थिति और वृद्धि कैसे और कहां से होवे और सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र का फल जो सर्वज्ञ परमात्मा रूप को प्राप्त होना कैसे हो सकता है ?

संसार मे अनेक प्रकार के पत्थर होते है, यद्यपि जाति अपेक्षा वे सब एक है परन्तु अपनी २ कान्ति अपने २ गुणों की अपेक्षा उन मे बड़ा अन्तर होता है। लाल झाझड़े पत्थर और पद्मराग मणि को ही ले लीजिये दोनों ही खान से निकले पत्थर हैं, परन्तु दोनों की कान्ति मे बडा भेद है। एक मनुष्य यदि कई मन का भारी एक झाझड़ा पत्थर का टुकड़ा बाजार से ले जाता है तो बेचने पर शायद उसे कोई पैसा दो पैसा देवे, परन्तु यदि उसे एक बहुत ही छोटा सा और हलका सा मणि रत्ति माशे की तोल वाला मिल जाता है तो उसे लाखों की संपत्ति प्राप्त हो जाती है, कई पीढ़ियों तक दारिद्र उसका और उसके पुत्र पौत्रादिकों का दूर हो जाता है। ठीक इसी प्रकार थोड़ा सा ही ज्ञान और थोडा सा भी चारित्र यदि सम्यक्त सहित हो जाता है तो जीव स्वर्गादिक

के सुख भोगकर परम्पराय से जन्म मरण सहित, अविनाशी परमात्मा पद को प्राप्त कर लेता है। सम्यक्त्व के बिना घोर तपश्चरण, ग्यारह अंग पर्य्यन्त तक का ज्ञान भी कार्यकारी नहीं। परमात्म पद की प्राप्ति नही होती। कषाय की मदता से व्यन्तर, भवनवासी ज्योतिषी तथा अन्य अल्प रिद्धिधारी कल्पवासी देवों मे जन्म लेकर फिर से संसार भ्रमण के चक्कर मे पड़ जाता है और नाना प्रकार के कष्ट और दुःख भोगता है। वास्तव मे सम्यक् दर्शन की महिमा विचित्र है।

ग्रहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनोमुनेः॥३३

अर्थ—जिस गृहस्थी के मोह नहीं वह ग्रहस्थ में रहते हुवे भी मोक्ष मार्ग में तिष्ठता है, गृह का त्यागी मुनि यदि मोही है तो वह मोक्ष मार्गी नहीं है, मोही मुनि की अपेक्षा अवृति सम्यक् दृष्टि ग्रहस्थ श्रेष्ठ है।

भावार्थ—सम्यक् दृष्टि निर्भयता के साथ अपने कर्त्तव्य का पालन किया करता है सम्यक् दृष्टि के भोग भी निर्जरा का ही कारण होता है। जिनेन्द्र प्रभु की जिस आज्ञा को पालन करने का समर्थ अपने मे देखता है उसको आचरण में लाता है और जिसको पालन करने की शक्ति अपने मे नहीं देखता उसको यद्यपि वह धारण नहीं करता, तथापि उसका उसे दृढ़ श्रद्धान अवश्य है। सम्यक्दृष्टिके लिये रत्नत्रय रहित शरीर वंदनीक नहीं है, चाहे कितने ही उच्च और श्रेष्ट जाति और कुलका क्यों न

हो, सम्यक्दर्शन गुण रहित श्रावक और मुनि दोनों ही वन्द-नीय नहीं हैं। यह शरीर केवल कुल और जाति के कारण ही वन्दनीक नहीं होता है। रत्नत्रयके प्रभाव से ही यह शरीर वंदनीक होता है कुल जाति भी रत्नत्रय के प्रभाव से ही पूज्य और वंदनीक होते हैं।

न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व समं नान्यत्तनूभृताम् ३४

अर्थ--प्राणियों के लिये सम्यक्दर्शन जैसा तीन काल और तीन लोक में और कोई कल्याणकारी नहीं है और मिथ्यात्व जैसा अपकार करने वाला तीन लोक में और तीन काल में कोई भी द्रव्य चेतन या अचेतन न हुआ, न है और न होगा।

भावार्थ—संसार के समस्त दुःख को मेटने वाला और परम आत्म कल्याण का कर्त्ता एक सम्यक्त्व ही है इसलिये सदैव इस के उपार्जन का उद्यम करना योग्य है।

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारक तिर्यङ्-
नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां
च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥३५॥

अर्थ—जो जीव सम्यक्दर्शन से शुद्ध हैं व्रती न होते हुवे भी वे नरक, तिर्यञ्च, नपुंसक और स्त्री पर्याय, नीच

कुल विकृत अङ्ग और अल्पायु तथा दरिद्रता को प्राप्त नहीं होते हैं।

भावार्थ—अव्रती सम्यक्दृष्टि के नीचे लिखी इकतालीस कर्म प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता —

१. मिथ्यात्व, २. हुँडक संस्थान ३. नपुंसक वेद, ४. असृपाटिक संहनन, ५. एकेन्द्री, ६. स्थावर, ७ आताप ८ सूक्ष्मपना, ९. अपर्याप्त, १० दो इन्द्रिय, ११. ते इन्द्रिय, १२. चौ इन्द्रिय, १३. साधारण, १४, नर्क गति, १५. नरकगत्यानुपूर्वी, १६ नरक-आयु,–यह १६ कर्म प्रकृति मिथ्यात्व भाव से ही वंध को प्राप्त होती हैं।

अनन्तानुबंधी क्रोध १, मान २, माया ३, लोभ ४, स्त्यानगृद्धि ५, निद्रानिद्रा ६, प्रचलाप्रचला ७, दुर्भग ८, दुःस्वर ९, अनादेय १०, न्यग्रोधपरिमडल संस्थान ११, स्वाति संस्थान १२, कुब्जक संस्थान १३, वामन संस्थान १४, वज्रनाराच संहनन १५, नाराच संहनन १६, अर्द्धनाराच संहनन १७, कोलित संहनन १८, अप्रशस्त विहायोगति १९, स्त्रीपना २०, नीचगोत्र २१, तिर्यंगति २२, तिर्यगत्यानुपूर्वी २३, तिर्यंचायु २४, उद्योत २५–यह २५ प्रकृति अनन्तानुबन्ध के प्रभाव से बन्ध को प्राप्त होती है।

इन इकतालीस प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यादृष्टि के होता है— अवृत्ति सम्यक् दृष्टि के इन का कोई नवीन बन्ध नहीं होता। यदि सम्यक्त्व के प्रभाव से नष्ट हो जाती है, आयु का बन्ध नहीं छूटता, फिर भी सम्यक्त्व का प्रभाव ऐसा है कि पहले यदि सातवे नर्क की आयु का बन्ध किया हुआ हो तो सम्यक्त्व होने के

पश्चात केवल पहले नर्क मे ही जावे। आगे दूसरे तीसरे आदि मे न जावे। यदि तिर्यञ्च मे निगोद की एकेन्द्री की आयु का बन्ध किया होवे तो सम्यक्त्व के प्रभाव मे उत्तम भोगभूमि का पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च ही होवे। एकेन्द्रिय आदिक कर्म भूमि का जीव नहीं होवे। यदि लब्धिपर्याप्तक मनुष्य की आयु का बन्ध किया होवे तो सम्यक्त्व के प्रभाव से उत्तम भोगभूमि का मनुष्य होता है व्यन्तरादिक मे नीच देव की आयु का बन्ध किया हो तो महारिद्धि का धारी कल्पवासी देव होता है। अन्य भुवनात्रिक देवों मे यथा चारों प्रकार के देवों की देवांगना, तथा किसी भी स्त्री पर्याय में पैदा नही होता—नीच कुल मे जन्म नही होता दरिद्री अल्पायु का धारक नही होता ऐसी सम्यक् दर्शन की महिमा होती है।

ओजस्तेजो विद्यावीर्य्य यशो-
वृद्धिविजय विभवसनाथाः।
महाकुला महार्था मानवतिलका-
भवन्ति दर्शनपूताः॥ ३६॥

अर्थ—सम्यक्दर्शन से पवित्र पुरुष मनुष्यों का तिलक होता है, सम्यक्दृष्टि पराक्रम, प्रताप, विजय, शक्ति उज्जवल यश, गुण, तथा सुख की वृद्धि, विजय तथा विभव इन समस्त गुणों का स्वामी होता है, महान् कुल में उत्पन्न होता है, महान् धर्म, महान् अर्थ, महा काम महामोक्ष रूप चारों पुरुषार्थ का स्वामी होता है।

अष्टगुणपुष्टि तुष्टा दृष्टिविशिष्टाः

प्रकृष्टशोभाजुष्टाः ।

अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते,

जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे ॥३७॥

अर्थ—जिनेन्द्र भक्त सम्यक्दृष्टि जीव देवों में अप्सराओं की सभाओं में चिरकाल पर्यंत आनन्द भोगते हैं, अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, काम रूपित्व इन आठ ऋद्धियों की पुष्टता से सन्तुष्ट और अन्य सर्व देवों की अपेक्षा उत्कृष्ट कांति तेज, यश, आदिक से संयुक्त, स्वर्ग लोक में देव देवियों की सभा में चिरकाल तक क्रीड़ा करते हैं।

भावार्थ—अव्रत सम्यक्दृष्टि, स्वर्ग लोक मे देव होता है, हीन पुण्य वाला नहीं होता है, इन्द्र के समान विभूति, कान्ति, ज्ञान, सुख, ऐश्वर्य का धारक, महा ऋद्धि धारी उत्कृष्ट देवों मे उपजता है।

नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः

सर्वभूमिपतयश्चक्रम् ।

वर्त्तयितुं प्रभवंति स्पष्टदृशः

क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥३८॥

अर्थ—सम्यक्दृष्टि जीव स्वर्ग लोक में आयु पूर्ण कर

के मनुष्य लोक में आकर नवनिधि चौदह रत्नों का स्वामी षट खंड का अधिपति, बत्तीस हज़ार मुकुटबंध राजाओं द्वारा वन्दनीय चक्रवर्ती होकर चक्र रत्न द्वारा अपना शासन धर्म पूर्वक चलाता है।

अमरासुर नरपतिभिर्यमधर-
पतिभिश्च नूत पादाम्भोजाः ।
दृष्ट्वा सुनिश्चितार्था वृषचक्र-
धरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥३९॥

अर्थ—सम्यक् दर्शन द्वारा पदार्थों के स्वरूप का निर्णय करने वाले जीव देवेन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्तियों तथा गणधर देवों द्वारा पूज्य, धर्मचक्र के धारक तीर्थंकर तीन लोक के प्राणियों के लिये उत्कृष्ट शरण स्वरूप होते हैं।

शिवमजरम रुजमक्षय-
मव्याबाधं विशोक भय शंकम् ।
काष्ठागतसुखविद्याविभवं
विमलं भजंति दर्शनशरणाः ॥४०॥

अर्थ—जिनको सम्यक्दर्शन की शरण है वे ही पुरुष निराकुलता लक्षण रूप मोक्ष का अनुभव करते हैं। मोक्ष दशा में जरा नहीं, रोग पीड़ा व्याधि नहीं, अक्षय है,

अर्थात् वहां अनन्त चतुष्टय रूप निजस्वरूप का नाश नहीं, वहां कोई किसी प्रकार की बाधा नहीं न कोई शोक है, न भय है, न शंका है। सुख और ज्ञानकी सम्पत्ति वहां अपनी परम सीमा को प्राप्त हो गई है, जहां ज्ञानावर्णादिक द्रव्य कर्म, राग द्वेषादिक भाव कर्म तथा शरीरादिक नो कर्म का सर्वथा अभाव होगया है; ऐसे अद्वितीय स्वरूप मोक्षका अनुभव सम्यक्दृष्टि के ही होता है।

देवेन्द्र चक्रमहिमानममेयमानं
राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्र शिरोर्चनीयम्।
धर्मेन्द्र चक्रमधरीकृतसर्वलोकं
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्ति रूपैतिभव्यः ४१

अर्थ—जिनेन्द्र का भक्त सम्यक्दृष्टि भव्य जीव स्वर्ग लोक में अप्रमाण ऋद्धि, शक्ति, सुख, विभव तथा प्रभाव वाले देवों के समूह की महिमा को प्राप्त होता है, फिर वहाँ से चय कर बत्तीस हज़ार मुकुट बन्द राजाओं द्वारा पूजनीय चक्रवर्ती पद को प्राप्त कर चक्ररत्न को धारण करता है। परम्पराय से तीन लोक को दास बना लेने वाले तीर्थंकर भगवान के धर्म चक्र को प्राप्त कर निर्वाणपद को प्राप्त होता है।

भावार्थ--सम्यक्दृष्टिके विचारों अथवा एक मिथ्यादृष्टि के विचारोंमे बड़ा अन्तर होता है। अवृति सम्यक्दृष्टि के यद्यपि

अप्रत्याख्यानावरण के उदय मे देशचारित्र नहीं होता है और प्रत्याख्यानावरण के उदय मे सकलचारित्र नही होता है, तथापि सम्यक्‌दर्शन के प्रभाव से उसको ऐसा दृढ़ भेद विज्ञान जाग्रत होता है कि वह स्वप्नमे भी पर्य्याय बुद्धि नहीं करता—वह चिंतवन करता है कि "हे आत्मन ! सर्वज्ञ वीतराग प्रभुके परमागमकी शरण ग्रहण कर, ज्ञान नेत्र को उघाड़ ज्ञान दृष्टि से देख, तेरा स्वरूप स्पर्श रस, वर्ण गंध रूप नही है, यह पुद्‌गल मे पाये जाते है। क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हर्ष, विषाद, मद, मोह, शोक, भय ग्लानि कामादिक कर्मजनित विकार है, तेरे मे सर्वथा भिन्न है, न तू नारकी है, न तिर्यंच है, न मनुष्य है, न देव है, यह चारों गतिया तेरा स्वरूप नही है, यह कर्म जनित है, विनाशीक हैं। सम्यक्‌ज्ञानी विचारता है—मैं गोरा नहीं, मै श्याम नहीं, मै राजा नही, मैं रङ्क नहीं, मैं बलवान नहीं, मैं निर्बल नहीं, मै स्वामी नहीं, मै सेवक नही, मै रूपवान नही, मै कुरूप नही, मै पुण्यवान नहीं, मैं पापी नही, मैं धनवान नही मै निर्धन नहीं, मै ब्राह्मण नहीं, मै क्षत्रिय नही, मै वैश्य नहीं, मैं शूद्र नहीं, मै स्त्री नही, मै पुरुष नही, मैं नपुंसक नही, मैं स्थूल नहीं, मैं कृष नही, मैं नीच जात नही मै ऊँच जात नही, मै कुलवान नही, मै अकुलीन नहीं, मै पंडित नहीं, मैं मूर्ख नहीं, मै दाता नहीं, मै याचक नहीं, मैं गुरु नही, मैं शिष्य नही, मै शरीर नहीं, मैं इन्द्रिय नहीं, मैं मन नहीं, इत्यादि-ये सब कर्मोदय जनित पुद्‌गल के विकार है। मेरा निज स्वरूप तो ज्ञातादृष्टा हूं—मैं अखंड ज्ञायक भावका धारक हूँ। मुनिपना क्षुल्लकपना भी पुद्‌गलका भेष है, लोक मेरा नहीं, देश मेरा नही,

ग्राम मेरा नही, यह समस्त पर द्रव्य है मेरे से भिन्न है।

इसके अतिरिक्त मिथ्यादृष्टि पर्याय बुद्धि होता है पर कृत पर्याय मे, अपना आपा मान हर्ष विषाद किया करता है, मिथ्यादृष्टि जात मे कुलमे, देहमें, धनमे, धाममे, नगरमे, कुटंबमे अपना आपा माना करता है। वह ऐसा माना करता है कि मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, मैं निर्धन हूँ, मैं राजा हूँ, यह मेरा घर है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, मैं बलवान हूँ, मै निर्बल हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं चतुर हूँ। शरीर जन्म को अपना जन्म और शरीरके मरण को अपना मरण मानता है। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, अपने देखते २ जो नितप्रति जीवोंको दुख देते है उन्हीं का सेवन करता हुआ सुख गिनता है। मिथ्यादृष्टि पूर्व मे बांधे हुवे शुभ कर्मोंके फल भोगने मे तो रुचि और अशुभ कर्मोंके फल भोगने मे अरुचि करता है क्योंकि वह निज आत्म स्वरूपसे सर्वथा अनभिज्ञ है। अपने आत्मा के हित के कारण जो वैराग्य और ज्ञान है, विपरीत बुद्धिके कारण उनको अपने लिये दुःखदायी समझता है। वह कषाय के वशीभूत हो जिनेन्द्र कथित सूत्रों की भी निन्दा किया करता है, किंचित जिनधर्ममे भी अधिकार को प्राप्त कर, वह दुष्ट अभिप्रायी, अभिमानी, पक्षपाती हठग्राही तथा आपा पंथी बन कर भगवान की आज्ञा का उल्लङ्घन करता हुवा कलह विसंवाद तथा परनिन्दा मे ही धर्म मान खुश हुवा करता है। स्वयं अन्याय से आजीविका कमाते हुवे, हिंसादिक के आरंभ मे स्वयम् निपुण होते हुवे अन्य धर्मावलम्बियों के दोष निकालने मे प्रवीण होता है। मान कषाय के वशीभूत हो अपने को ऊँचा मानता है,

अपनी प्रशंसा करा करा करके आपे मे फूला नहीं समाता है अन्य भोले जीवो को मिथ्या उपदेश दे देकर उनको हठग्राही बनाता फिरता है। केवल इस बात से कि मैं कुगुरु कुदेव आदि को नमस्कार नही करता अपनेको सम्यक्दृष्टि मान बैठता है और दूसरो को सब को अधर्मी पापी जान घृणा की दृष्टि से देखता है जो केवल नमस्कार पूजा नही करने से ही सम्यक्दृष्टि बनता हो तो समस्त ही नारकी, मनुष्य, तिर्यञ्च आदिक सब ही सहज में सम्यक्दृष्टि बन जावे, परन्तु ऐसा है नहीं--जगत की निन्दा करनेवाला और पापियो से वैरभाव के रखने वाला तो कुगति का ही पात्र होगा--मिथ्याभाव तो जगत के जीवों के अनादिकाल से ही पाया जाता है, सम्यक्दृष्टि उनमे द्वेष नहीं करता, उन पर करुणा करता है और सबसे मैत्रीभाव अर्थात् समताभाव ही किया करता है। सम्यक्दर्शन तो आप पर के यथार्थ श्रद्धानसे ही होता है, सत्यार्थ श्रद्धान ज्ञान विनय सहित स्याद्वाद रूप परमागम की आराधना करने से ही सम्यक्दर्शन की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार सम्यक्दर्शन की महिमा को जान हे भव्य जीवो! सम्यक् दर्शन रूपी अमृत का पान करो, यह अनुपम अतीन्द्रिय सहज सुख का भंडार है, सर्व कल्याण का बीज है, संसार समुद्रसे पार करने के लिये जहाज के समान है, भव्य जीव ही इसको प्राप्त कर सकते हैं। यह पाप रूपी वृक्ष को काटने के लिये कुठार के समान है, पवित्र तीर्थोंमे यही प्रधान है तथा मिथ्यात्व का शत्रु है।

इति श्रीस्वामी समन्तभद्राचार्य विरचित रत्नकरंडश्रावकाचार का सम्यक् दर्शन का स्वरूप वर्णन नामवाला प्रथम अधिकार समाप्त भया।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

अब सम्यक् ज्ञान का स्वरूप कहते है —

अन्यून मनतिरिक्तं याथा,
तथ्यं विना च विपरीतात् ।
निस्सन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञा-
नमागमिनः ॥ ४२ ॥

अर्थ—आगम के जानने वाले आगमधर देव तथा श्रुतकेवली ज्ञान उसे कहते हैं जो वस्तु के स्वरूप को परिपूर्ण जानता है, न्यून अर्थात् कम नहीं जानता है और वस्तु का स्वरूप जैसा है उससे अधिक नहीं जानता और जैसा वस्तु का सत्यार्थ रूप है वैसा ही जानता है, विपरीत पना रहित तथा संशय रहित जानता है ।

भावार्थ—वस्तु के स्वरूप को न्यून (कम) जानना तथा अधिक जानना तथा विपरीत जानना तथा संशय रूप जानना ऐसे मिथ्या ज्ञान चार प्रकार का होता है, जो वस्तु के स्वरूप को न्यून नहीं जानता, अधिक नहीं जानता, विपरीत नहीं जानता, संशय रूप नहीं जानता, जैसा वस्तुका स्वरूप है यथार्थ वैसा ही संशय-रहित जानता है, वही सम्यक् ज्ञान कहलाता है ।

ज्ञान का काम मात्र जानना है, मात्र प्रकाश करना है। जैसा द्रव्य गुण पर्याय है वैसा ही जानना है.न कम जानना है,न अधिक जानना है,न विपरीत जानना है। शुद्ध ज्ञान जीवादि छहों द्रव्योंके भिन्न स्वभावोंको जानना है,मूल स्वभावोंको जानता है। जानते हुवे भी न किसी से राग करता है न किसी से द्वेष करता है, न प्रशंसा किये जाने पर उन्मत्त होता है, और न निन्दा किये जाने पर रुष्ट होता है, पूर्ण समदर्शी, वीतरागी, निराकुल रहता है सम्यक् ज्ञान सम्यक् दर्शन पूर्वक होता है। वस्तु के स्वरूप के जानने की अपेक्षा सिद्ध परमात्मा अरहत केवली परमात्मा के ज्ञान में और सम्यक् दृष्टि अवृति या वृति के ज्ञान मे कोई अन्तर नही होता है। मात्र अन्तर यह होता है कि केवली भगवान शुद्ध स्वभाविक केवल ज्ञान द्वारा जानते है और एक श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञान के द्वारा परोक्ष जानना है। केवल ज्ञानी अधिक पर्यायो को जानते है, श्रुत ज्ञानी कम पर्यायो को जानता है परन्तु जितना कुछ भी जानता है वह केवल ज्ञान के सदृश ही है। अनुकूल ही जानता है प्रतिकूल नहीं जानता और जैसे केवलज्ञानी सब कुछ जानते हुवे भी पूर्ण वीतराग है वैसे ही सम्यक् दृष्टि का ज्ञान भी वीतराग भाव से जानता है वह भी रागद्वेष बिना किये अपनी व दूसरो की कर्म जनित अवस्था को वस्तु स्वरूप से जानता है। सराग सम्यक्दृष्टि का ज्ञान श्रद्धान वीतराग सम्यक्दृष्टि के समान ही होता है, उसके केवल चारित्र मोहनी का उदय होता है और उसे वह निश्चय से कर्म का उदय जानता है, उसे पर ही अनुभव करता है; सर्व मन, वचन, काय की क्रियाओं को भी पर जानता है, उसके

अंतरंग में प्रबल भावना होती है कि कब सरागता मिटे और कब मैं वीतराग होजाऊँ। तत्वज्ञानी सम्यक् दृष्टि का यह ज्ञान कि "मैं निश्चय से परमात्मवत्, शुद्ध, निर्विकार, ज्ञाता, दृष्टा हूँ" आत्मज्ञान कहलाता है और इस आत्म ज्ञान को ही निश्चय सम्यक् ज्ञान कहते हैं। इसी को जिनवाणीका सार भावश्रुत ज्ञान कहते है। इस भावश्रुत ज्ञान के द्वारा आत्मा का अनुभव रूपी दोयज का चन्द्रमा अभ्यास के बल से बढ़ता २ पूर्णमासी का चंद्रमा रूप केवलज्ञान हो जाता है। इसी आत्मज्ञान की प्राप्ति के हेतु द्रव्य श्रुत द्वारा छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्त तत्त्व, नव पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है और उनके ज्ञान के लिये परमागम का अभ्यास करना भी बड़ा आवश्यक है। इस शास्त्राभ्यास को व्यवहार सम्यक्ज्ञान कहते है। जिनवाणी मे अनेक शास्त्रों का संग्रह है, उनको चार अनुयोगों मे विभाजित किया गया है।

(अ) प्रथमानुयोग (आ) करणानुयोग (इ) चरणानुयोग (ई) द्रव्यानुयोग। अब आगे आचार्य इन चारों अनुयोगों की व्याख्या करते है।

प्रथमानुयोग

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यं।
बोधि समाधि निधानं बोधति बोधःसमीचीनः ४३

अर्थ— जिसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों का कथन, जिसमें किसी एक पुरुष के आश्रित कथा, तथा त्रेसठ शलाका पुरुष सम्बंधी जीवन चरित्र

अर्थात् पुराण पाया जाता है, जो बोधि (सम्यक् दर्शन आदि रत्नत्रय) की प्राप्ति तथा सम्यक् दर्शन आदिक की परिपूर्णता (समाधि) का ख़ज़ाना है और जो पुण्य का कारण होने से साक्षात् पुण्य है ऐसे प्रथमानुयोग को सम्यक् ज्ञान ही जानता है ।

भावार्थः—प्रथमानुयोग में उन महान पुरुषों के, महान स्त्रियों के जीवन चरित्र है, जिन्होंने धर्म का साधन करके आत्मा की उन्नति की है इसमें उन चारित्रों का भी कथन है, जिन्होंने पाप बाँधकर दुःख उठाया है व जिन्होंने पुण्य बांधकर सुख साताकारी साधन प्राप्त किया है । इस प्रकार के वर्णनको पढ़ने से यह प्रभाव बुद्धि पर पड़ता है कि हमको भी धर्म का साधन करके अपना कल्याण करना योग्य है । हमें सुख साधन के निमित्त किस प्रकार का जीवन बिताना चाहिये, पापों से कैसे बचे, पुण्य का कैसे सचय करे यह सब ज्ञान प्रथमानुयोग के शास्त्रों जैसे आदिपुराण, उत्तरपुराण, पार्श्वपुराण आदि ग्रन्थों के पढ़ने से होता है ।

(करणानुयोग)

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च ।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥४४

अर्थ—ऐसे ही सम्यक् ज्ञान करणानुयोग को जानता है । करणानुयोग षट् द्रव्यों के समुदाय रूप लोकाकाश, और केवल आकाश द्रव्य ही जहाँ पाया जाने ऐसे अलो-

काकाश के विभाग उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के परिवर्तन, नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देवरूप, चारों गतियों के परिभ्रमण को दर्पण के समान दिखाने वाला है।

भावार्थ--करणानुयोग मे चार गति का स्वरूप और लोक का स्वरूप बताया है तथा जीवों की अवस्था के भेद, गुण स्थान व मार्गणा स्थानों का कथन है। तथा कर्मों के बन्ध, उदय सत्ता आदि का निरूपण है। वह सब हिसाब बताया है जिसमें आत्मा की अवस्थाएं कर्म के संयोग से भिन्न २ प्रकार की होती है। इस ज्ञान की अध्यात्म ज्ञान के लिये बहुत आवश्यकता है। जो गुण स्थानों को समझेगा वही ठीक २ जानेगा कि सम्यक्दृष्टि किस अपेक्षा बंधक है, तथा किस अपेक्षा अबंधक है तथा कर्मबंध कौन से गुण स्थान तक होता है तथा कर्मों की अवस्था कैसे बदली जा सकती है, यह आत्म ज्ञान का बडा ही सहकारी है, कर्म पुद्गल की संगति से जीव के सर्वव्यवहार नृत्य का दिग्दर्शन इसी अनुयोग मे होता है। इस योग के ग्रंथ गोमटसार, लब्धि-सार, क्षपणासार, तथा त्रिलोकसार आदि है।

(चरणानुयोग)

गृहमे ध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्ति,
वृद्धि रक्षाङ्गम्।
चरणानुयोग समयं सम्यग्ज्ञानं,
विजानाति ॥ ४५ ॥

अर्थ—सम्यक् ज्ञान ही गृहस्थी और गृह त्यागी

अनगार अर्थात् यति के निर्दोष आचरण की उत्पत्ति, उस की दिन २ वृद्धि होने के कारण तथा धारण किये हुए आचरण की रक्षा के कारण रूप चरणानुयोग शास्त्र को जानता है।

भावार्थ—मन, बचन, काय को स्थिर करने के लिये, स्वरूपाचरणमय निश्चय चारित्र मे उपयुक्त होने के लिये जिस २ व्यवहार चारित्र की आवश्यकता है, वह सब चरणानुयोग मे बताया गया है। यति का चारित्र क्या है, गृहस्थ श्रावक का चारित्र क्या है,यह सब इस अनुयोग मे इस प्रकार विस्तार पूर्वक बताया गया है कि हरएक स्थितिका मनुष्य अपने२ पद तथा योग्यतानुसार उस का आचरण कर सके और न्यायनीतिपूर्वक धर्मानुसार राज्य कर्तव्य, देश रक्षाकर्म, वाणिज्यकर्म, कृषिकर्म, शिल्पकर्म आदि गृहस्थ योग्य कार्यों को करते हुवे अपने सहज सुख का साधन कर सके। किस २ चारित्र के पालन करने से वैराग्य अधिक २ बढता है, आत्म बल की वृद्धि होती है तथा आत्मध्यान की अधिक २ सिद्धि होती है, वह सब वर्णन चरणानुयोग के ग्रन्थों मे पाया जाता है। चरणानुयोग के ग्रन्थ मूलाचार, आचारसार, रत्नकरंडश्रावकाचार भगवति आराधनासार इत्यादि अनेक है।

(द्रव्यानुयोग)

जीवाजीव सुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोग दीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥४६॥

अर्थ—द्रव्यानुयोग रूपी दीपक उपयोग लक्षणात्मक

जीव, इस से विपरीत अजीव इन दोनों तत्त्वों को, पुण्य और पाप को, और कम बन्ध तथा कर्म बन्ध के हेतुओं के अभाव और निर्जरा द्वारा समस्त कर्मों से रहित होने रूप मोक्ष को, और आत्मा में भाव श्रुत ज्ञान रूप उद्योत को, यथार्थ रूप से विस्तार पूर्वक दिखलाता है।

भावार्थ—द्रव्यानुयोग मे छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सप्त तत्त्व, नौ पदार्थों का व्यवहार नय से पर्यायरूप तथा निश्चयनय से द्रव्य रूप कथन है, इसी में शुद्धात्मनुभव की रीति बताई है, जीवन्मुक्त होने का साधन बताया है, अतीन्द्रिय सहज सुख की प्राप्ति का साक्षात् उपाय बताया है। इस अनुयोग के समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, रयणसार, आप्त मीमांसा, परीक्षामुख आदि अनेक ग्रंथ है।

इन ऊपर लिखे चारों अनुयोगों के शास्त्रों को नित प्रति यथा सभव अभ्यास करना व्यवहार सम्यक्ज्ञान का सेवन है। ज्ञान की वृद्धि के निमित्त, अज्ञान तिमिर को दूर करने के हेतु से, शास्त्राभ्यास के समय नीचे लिखी बातों को विशेषता से ध्यान मे रखना चाहिये।

१–व्यञ्जन अर्थात् ग्रन्थ शुद्धिः—शास्त्र के वाक्यों का शुद्धोच्चारण शुद्ध पढ़ना, क्योंकि जब तक शुद्ध नहीं पढ़ेगे, यथार्थ अर्थ समझ मे नहीं आवेगा।

२–अर्थ शुद्धिः—शास्त्र का अर्थ ठीक २ समझना। ग्रंथ के यथार्थ भाव को समझना अर्थ शुद्धि है।

३–उभय शुद्धिः–ग्रन्थ को शुद्ध पढ़ना और और शुद्ध अर्थ सम-

भना दोनों बातों का ध्यान एक ही साथ रखना उभय शुद्धि है

४–कालाध्ययनः—शास्त्रों को यथा योग्य समय पर पढ़ना।

५–विनय—शास्त्र को बड़े आदर से पढ़ना चाहिये। शास्त्र पढ़ते समय बड़ी भक्ति और प्रेम होना चाहिये, शास्त्र पढ़ते समय भावना होनी चाहिये कि मेरे जीवन का समय सफल होवे, मुझे आत्मज्ञान का लाभ हो।

६–उपधानः—धारणा सहित ग्रंथ को पढ़ना चाहिये, जो कुछ पढ़ता जावे वह अंतरङ्ग में अंकित होता जावे, यदि पढ़ते चले गये और कोई बात ध्यान में नहीं जमी तो अज्ञान तो मिटेगा नहीं, लाभ क्या होगा? यह अंग बड़ा आवश्यक है, ज्ञान का प्रबल साधन है।

७–बहुमानः—शास्त्र को बड़े मान प्रतिष्ठा से ऊंची चौकी पर विराजमान करके आसन से बैठकर पढ़ना बाँचना उचित है, शास्त्रों को अच्छे २ सुंदर गत्तो तथा वेष्ठनों से विभूषित करके ऐसी अलमारियों में सुरक्षित रक्खा जावे जहां दीमक, चूहे आदि उनको बिगाड़ न सकें।

८–अनिन्हवः—यदि अपने को शास्त्र ज्ञान हो और कोई उसकी बाबत हमसे कुछ पूछे तो बता देना चाहिये, समझा देना चाहिये, छिपाना नहिं चाहिये। जिस गुरु से या जिस शास्त्र से ज्ञान प्राप्त किया हो, उनका नाम न छिपावे। यह सम्यक् ज्ञान के आठ अंग कहलाते हैं इन आठों अंगों सहित जो शास्त्रों का अभ्यास करता है, मनन करता है, वह व्यवहार सम्यक् ज्ञान का सेवन करता हुवा निश्चय सम्यक् ज्ञान

को प्राप्त कर सकेगा।

सम्यक् ज्ञान के अभ्यास से राग द्वेष, मोह मिटता है, ममता भाव जाग्रत होता है, आत्मा मे रमण करने का उत्साह बढ़ता है। सहज सुख का साधन बनता है, स्वानुभव जाग्रत हो जाता है। जिससे परम सुख शान्ति का लाभ होता है, आत्म बल बढ़ता है, कर्म मैल कटता है, मनुष्य जीवन परम सुन्दर स्वर्णमय हो जाता है ज्ञानाभ्यास बिना कषायों की मंदता नहीं होती, व्यवहार की उज्जलता परमार्थ का विचार आगम की सेवा से ही होते है। सम्यक्ज्ञान ही जीवकापरम बांधत्व है उत्कृष्ट धन है, परम मित्र है सम्यक् ज्ञान ही अविनाशी धन है। स्वदेशमे, परदेशमे, सुख अवस्थामें, दुख मे, आपदा मे,संपदा मे, परम शरणभूत सम्यक्-ज्ञान ही है। यह एक स्वाधीन अविनाशी धन है। ऐसा जान हे भव्य जीवो! सम्यक्ज्ञानकी आराधना करो। यह सम्यक्ज्ञान पाप रूपी अन्धकारको दूर करनेको सूर्यके समान है, मोक्षरूपी लक्ष्मी के निवास के लिये कमल के समान है, काम रूपी सर्प के कीलने को मन्त्र के समान है, मन रूपी हाथी को वश करने को सिंह के समान है, आपदा रूपी मेघों को उड़ाने के लिये पवन के समान है, समस्त तत्वों को प्रकाश करने के लिये दीपक के समान है, तथा पांचों इन्द्रियों के विषयों को पकड़ने के लिये जाल के समान है।

इति श्री स्वामी समंतभद्राचार्य विरचित रत्नकरंड श्राव-काचार का सम्यक् ज्ञान का स्वरूप वर्णनवाला द्वितीय अधिकार समाप्त भया।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

अब आगे सम्यक् चारित्र का स्वरूप कहते हैं।

मोह तिमिरापहरणे दर्शन लाभादवाप्त संज्ञानः।
राग द्वेष निवृत्यै चरणं प्रति पद्यते साधुः ॥४७॥

अर्थ—दर्शन मोह रूपी अन्धकार के यथासम्भव उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम होने पर सम्यक् दर्शन की प्राप्ति के साथ ही सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करने वाला सम्यक् ज्ञानी राग द्वेषके अभाव के निमित्त सम्यक् चारित्र को अङ्गीकार करता है।

भावार्थ—अनादिकाल से इस संसारी जीव के ज्ञान नेत्र दर्शन मोह के उदय रूप अन्धकार के कारण मुंदे हुवे हैं, अंधकार के कारण आपा पर के भेद विज्ञान विना चतुर्गति रूप संसार में पर्याय बुद्धि हुआ अनन्त काल से परिभ्रमण कर रहा है। किसी समय में करण लब्ध्यादि सामग्री जुट जाने पर दर्शन मोहनी के उपशम से तथा क्षय से तथा क्षयोपशम से सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होती है, तब मिथ्यात्व के अभाव से ज्ञान भी सम्यक् ज्ञानपने को प्राप्त हो जाता है। उस समय कोई सम्यक् ज्ञानी राग द्वेष की निवृत्ति के निमित सम्यक् चारित्र को धारण करता है।

राग द्वेष निवृत्ते र्हिंसादि निवर्तना कृताभवति।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥४८

अर्थ—राग द्वेष का अभाव हो जाने पर हिंसादिक

पांच पापों की निवृत्ति परिपूर्ण हो जाती है; क्योंकि द्रव्य प्राप्ति की अभिलाषा के बिना कौन पुरुष राजाओं की सेवा करता है ?

भावार्थ—राजाओं की महाकष्ट रूप सेवा चाकरी आदि वही पुरुष किया करते हैं जिनको भोग सामग्री की चाह हो, या जिन के चित्त में धन की तथा ऐश्वर्य अभिमानादिक की अभिलाषा बनी हुई हो जिन को कोई ऐसी चाह या अभिलाषा न हो वह काहे को किसी राजा की सेवा चापलूसी आदि करे ? इसी प्रकार जिनके रागद्वेष का अभाव हो जाता है वह हिंसादि पंच पापों में कदापि प्रवृत्ति नहीं किया करते हैं ।

हिंसानृत चौर्येभ्यो मैथुन सेवा परिग्रहाभ्यां च ।
पाप प्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रं ४६

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह यह पापास्रव के प्रणाले (द्वार) हैं, इनसे विरक्त होना सम्यक् ज्ञानी का चारित्र है ।

भावार्थ—समस्त बाह्य प्रवृत्ति के छूटने पर, परम वीतरागता के प्रभाव से, परम साम्य भाव को प्राप्त कर, अपने निजज्ञायक भाव रूप स्वरूप में रमण करना स्वरूपाचरण नाम का निश्चय सम्यक् चारित्र कहलाता है। परन्तु हिंसादि पंच पापों से विरक्त हो अंतरंग तथा बहिरंग प्रवृत्ति की उज्जलता रूप व्यवहार चारित्र बिना निश्चय चारित्र की प्राप्ति नहीं होती, इसलिये पंच पापों का त्याग करना ही श्रेष्ठ है और इन का त्याग ही चारित्र है।

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्व संग विरतानां
अनगाराणां विकलं सगाराणां ससंगानां ॥५०॥

अर्थ—यह चारित्र दो प्रकार का होता है। सकल चारित्र और विकल चारित्र। अंतरंग तथा बहिरंग के समस्त परिग्रह रहित परम दयालु ज्ञानी मुनीश्वरों के सकल चारित्र होता है। जिन बचन श्रद्धानी, न्यायमार्गी पाप से भयभीत ज्ञानी गृह कुटम्ब धनादिक सहित गृहस्थियों के विकल चारित्र होता है।

विकल चारित्र

गृहिणांत्रेधा तिष्ठत्यणुगुण शिक्षाव्रतात्मकं चरणं
पञ्चत्रि चतुर्भेदं त्रयं यथा संख्यमाख्यातं ॥५१॥

अर्थ—ग्रहस्थों का चारित्र अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत तीन प्रकार का होता है। संख्यानुसार यह तीनों पंच भेदरूप, तीन भेदरूप, और चार भेदरूप क्रमशः परमागम में बताये गये हैं।

भावार्थ—ग्रहस्थ को छोड़ने मे असमर्थ सम्यक् दृष्टि गृहस्थ पंच अनुवृत, तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रतो को धारण कर विकल चारित्र का साधन किया करते है।

अणुव्रत

प्राणातिपात वितथ व्याहार स्तेय काममूर्छाभ्यः
स्थूलेभ्यः पापेभ्योऽव्युपरमण मणुव्रतं भवति ॥५२

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन सेवन और परिग्रह यह पांच पाप हैं, इनमें स्थूल पापों से विरक्त होना अणुव्रत है।

भा०—त्रस जीवोंकी संकल्पी हिंसाका त्याग करना स्थूल हिंसा का त्याग कहलाता है। जिन वचनों के कहने से दूसरे प्राणियों का घात हो जावे, धर्म बिगड़ जावे, दूसरोंका अपवाद हो जावे, दूसरों के चित्त मे कलह, संक्लेश भय आदिक प्रगट हो जावे, ऐसे बचनों को क्रोध, मान, माया लोभ के वशीभूत होकर कहने का त्याग करना स्थूल असत्य का त्याग है।

बिना दिये दूसरो के धन को लोभ के वशीभूत होकर छल कपट करके ग्रहण करने का त्याग स्थूल चोरी का त्याग है।

अपनी विवाही स्त्री के सिवाय अन्य सब स्त्रियों मे काम की अभिलाषा का त्याग करना स्थूल कुशील त्याग है।

धन धान्य, दासी दास आदिक दस प्रकार के परिग्रह का परमाण कर अधिक परिग्रह का त्याग करना स्थूल परिग्रह त्याग है। इस प्रकार इन पांच स्थूल पापो का त्याग पच अणुव्रत है।

अहिंसाणुव्रत

संकल्पात्कृत कारित मननाद्योगत्रयस्यचरसत्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहु:स्थूलवधा द्विरमणं निपुणा:५३

अर्थ—जो ग्रहस्थ मन वचन काय के कृत कारित अनुमोदना रूप संकल्प से द्वीन्द्रियादिक जीवों का घात

नहीं करते हैं निपुण (गणधरदेव) उन्हें स्थूल हिंसा से विरक्त कहते है।

श्रावक के अणुव्रत की अपेक्षा हिंसा विविध प्रकार की है सङ्कल्पी हिंसा का तो त्याग व्रतारंभ होते ही हो जाता है—जान बूझकर, सोच समझ कर; हिंसा करने के इरादे से, अणुव्रती श्रावक कदापि हिंसा नही करेगा, किन्तु संकल्पी हिंसा को छोड़कर आरम्भी वा विरोधी हिंसा का त्याग श्रावक के यथा शक्ति होता है। आरंभ मे, यत्नाचार पूर्वक दया धर्म को चित्त से न विसारता हुवा प्रवर्तता है। एक ग्रहस्थी का आरंभ के बिना निर्वाह नहीं हो सकता, कितने ही प्रकार का आरंभ नित्य प्रति करना पड़ता है। चूल्हा चढाना चक्की पीसना, ओखली मे अनाज दाल आदि को कूटना छड़ना, बुहारी देना जल संबधी आरंभ करना, द्रव्य उपार्जन करना यह छह कर्म तो नित्य ही जरूरी करने पड़ते है। और भी अनेक विविध प्रकारके आरंभ अनेक कारणों वश करने पडते है। पुत्र पुत्री का विवाह करना मकान बनवाना, उसका लीपना पोतना आदि सफाई कराना बर्तन रखना, उठावना, बिस्तर झाड़ना बिछाना धातु, काष्ट, पाषाण आदि का उठाना, धरना, पटकना बिरादरी का जीमन करना, घर मे मकान मे लैम्प बत्ती आदि जलाने का इत्यादिक पापरूप कार्य करने होते हैं। गाड़ी; रथ मोटर आदि सवारियों मे चढ़कर चलना, गाय, भैंस, घोड़ा, बैल, ऊँट आदि पशुओं का पालना, रखना, इत्यादि कार्यों मे त्रस जीवों का घात होता ही है। जिनमंदिर बनवाने में, पूजा करने में, [illegible]

देने मे इन मे भी तो आरभ है, इनमे त्रस जीव कीहिंसा का त्याग कैसे संभव हो सकता है।' उत्तर यही है कि हिंसा या अहिंसा अपने परिणामों के आधीन है, अपने परिणाम जीव मारने के नहीं, अपने चित्त मे ऐसा राग नही कि इस कार्य मे कोई जीव मर जावे या किसी की हिंसा हो जावे तो अच्छा है। अणुव्रती श्रावक तो जीव विराधना मे भय भीत हुवा ही ग्रहस्थी का काम रने के निमित्त प्रारंभ करता है, इसका संकल्प जीव हिंसा का नहीं है, वह तो अपने परिणामों मे वस्तुओं को रखता धरता, उठता बैठता, लेता देता, चलता फिरता जीवो की रक्षा का ही संकल्प करता है, जीवों का उपजना मरना उनके अपने अपने आयुकर्म के आधीन है, उसके यत्नाचार पूर्वक आरभ करते हुवे भी यदि किसी जीव का घात हो जाता है, तो एक दयालु यत्ना-चारी ग्रहस्थके परमागम मे हिंसा होते हुवे भी बन्ध नही कहा गया है। श्रावक यदि प्रमाद को टाल बड़ी सावधानी के साथ प्रवृत्ति कराता है तो उसे दोष कैसे लगे ? सदाचारी, दयालु धर्मात्मा श्रावक बड़ी सावधानी से रहता है—चूल्हा जलाता है तो चूल्हे को दिन मे सोध बुहार कर ईन्धन को देख भाल कर भड़काकर अग्नि जलाता है। ऐसे ही चक्की ओखली आदि को भी देख भालकर, झाड़ पोंछ कर काम मे लाता है। बीझे अन्न को नहीं पीसता। बुहारी देता है तो सूर्य के प्रकाश मे कोमल बुहारी से,जिससे कि जीव जन्तुओं की विराधना न हो सके काममें लाता है। जल को दोहरे मोटे वस्त्र से छान कर यत्नपूर्वक काम मे लाता है। धन उपार्जन भी अपने कुल तथा अपनी सामर्थ के

अनुसार ऐसे ढंग से जिस से कि उस का यश कीर्ति तथा धर्म नीति न बिगड़े, बड़े यत्न के साथ असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य, शिल्प इन षट् कर्मों द्वारा किया करता है, क्योंकि श्रावक के व्रत तो चारों ही वर्ण वाले धारण कर सकते है। यदि किसी उज्जल, हिंसा रहित कर्म द्वारा आजीविका हो सकती हो तो नीच नित्यकर्म द्वारा संक्लेशित भावों के साथ, लोभादिक कषायों के वशीभूत होकर क्यों करे। यदि अपने को आजीविका का कोई और उपाय दिखाई ही न पड़े, तो कम से कम हिंसा को लिये हुवे, पाप से भयभीत होकर न्याय पूर्वक आजीविका का उपार्जन करे। क्षत्रिय कुल का हथियार बन्द सिपाही हो, जनरल हो, अथवा कमांडर हो तो दीन अनाथों की रक्षा करते हुवे, दीन दुखी निर्बलो का घात नही करे, शस्त्र रहित (निहत्थे) को न मारे जो गिर पड़े उस पर हाथ न उठावे, जो रण क्षेत्र से पीठ दिखाकर दीनता अङ्गीकार कर भागे उनका घात नही करे। धन लूटने के निमित्त घात नहीं करे, मान कषाय के वशीभूत होकर शत्रुता के भाव से घात नही करे। यदि कोई शत्रु अपने ऊपर वार करता हो, तथा अन्य दीन पुरुषों को मारने के लिये आता हो उस को अपने शस्त्रों द्वारा रोके। शस्त्र द्वारा वही जीविका करते है जो या तो शस्त्र द्वारा अपने राजा आदि की सेवा मे भरती होकर अपने देश और अपने राज्य की रक्षा के निमित्त लडते है, या वह मनुष्य शस्त्र धारण करते है जो स्वयं राजा है और जिन का धर्म अपनी दीन, हीन प्रजा की रक्षा करना है मसि कहिये लिखने पढ़ने द्वारा जो जीविका की जाती है वह मसि कर्म है, क्लर्की,

मुनीमी आदि सब इसी प्रकार के व्यवसाय है-जो कुछ लिखे, ठीक सही ज्यों का त्यों लिखे, न्याय नीति पूर्वक लिखे, झूठे इन्द्राज बही मे, रजिस्टर मे सर्टीफिकेट मे या किसी भी दस्तावेज़ मे न करे जो यथार्थ हो वही लिखे।

कृषि कर्म द्वारा जो आजीविका करता है वह भी दया धर्म को न छोड़ता हुआ करता है, अधिक तृष्णा नही करे, अपन धर्म कर्म मे सावधानता रखे, यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करे, अपने संकल्प पूर्वक लोभ कषाय के वशीभूत होकर एक कीड़ी का भी घात नहीं करता अपने अहिंसाणुव्रत मे दृढ़ रहता है। ब्राह्मणादि श्रावक विद्या द्वारा आजीविका की प्राप्ति करते है, वह मिथ्यात्व भाव को पुष्ट करने वाले, हिसा की प्रधानता को लिये रागद्वेष वर्द्धक शास्त्रों का पठन पाठन न करके अहिसामय उज्वल विद्या को ही पढ़े पढ़ावे यही एक बड़ी दया है।

वैश्य श्रावकों को उचित है कि हिंसामय खोटे वाणिज्य व्यापार का त्याग करें, तीव्र लोभ को छोड़ न्याय पूर्वक, सन्तोष के साथ प्रमाणीक सचाई के साथ व्यवहार करे, दया धर्म को न भूलें। समस्त प्राणियों को अपने समान जानते हुवे वाणिज्य करे।

शिल्प कर्म वाले शूद्र भी श्रावक के व्रतों का पालन करते हैं, निंद्य कर्म को तो वह भी टालें ही, यदि टालने को समर्थ नहीं हों तो उसमे भी हिंसा को टाल दया रूप प्रवर्तें। संकल्प पूर्वक जीवों का घात नहीं करें।

इस प्रकार एक श्रद्धानी श्रावक गृहस्थ चाहे किसी भी वर्ण का क्यों न हो गृहस्थ के सब कार्य करता है, किन्तु उसके

भाव सदा कोमल और दयामय रहते हैं। अनिवार्य हिंसा हो जाने पर उसको हर्ष नहीं बल्कि खेद ही होता है और वह उस कर्म का प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त करता है। सारांश यह है कि एक जैन धर्मानुयायी सद् गृहस्थ संसार का प्रत्येक कार्य सावधानी से भले प्रकार सफलता पूर्वक कर सकता है। गृहस्थ धर्म मे दृढ़ रह कर दिन प्रतिदिन उन्नति करता हुआ एक ही जन्म मे परमात्म पद तक हो प्राप्त कर लेता है। जिन धर्म प्रति पालक के सामने कोई रोक नहीं है। वह उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँच सकता है और अहिंसा धर्म उसको इस उन्नति मार्ग के पद २ पर सहकारी होता है।

छेदनबन्धनपीडनमतिभारारोपणं व्यतीचाराः।
आहारवारणापि च स्थूल वधाद्व्यु-परतेः पंच ॥५

अर्थ—अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचार हैं, ये गृहस्थों को त्यागने योग्य हैं। कषाय या प्रमाद के वशीभूत होकर व्रत में दोष लगना अतिचार कहलाता है। यह पांच अतिचार इस भांति हैः—

छेदन—मनुष्य, पशु आदि जीवों के नाक, कान, पूछ, होंठ आदि अंगों पांगका छेदन करना छेदन नामा अतिचार है।

बन्धन—मनुष्य पशु आदि जीवों को बन्धनों से जकड़ना, बंदीगृह मे रोकना, पक्षियों को पींजरे मे रोक कर के रखना इत्यादि बन्धन नाम अतिचार हैं।

पीडन—मनुष्य, पशु आदिक जीवों को लात, मुक्का, लाठी, चाबुक, कोड़ा आदि से ताड़ना करना पीडन नामा अतिचार है।

अति भारारोपन—मनुष्य, पशु, गाडी गाड़ा पर शक्ति से अधिक बोझ का लादना अतिभारारोपन नामा अतिचार है।

अन्नपान निरोध—मनुष्य पशु आदि जीवों को खाना पीना न देकर भूखा प्यासा रखना अन्नपान निरोध नामा अतिचार है।

जहां कषाय या प्रमाद के वशीभूत होकर बर्ताव होता है वहां यह अतिचार होते हैं। अन्तरंग मे सुधार के हेतु से किसी को दंड देना अतिचार नही है, जैसे अपराधी को जेल मे भेजना विद्यार्थी को अपराधी हो जाने पर ताड़ना करना अथवा उपवास आदि दंड देना।

अहिंसाणुव्रत का पालन करने वाला पाँच भावनाओं का बार २ चिन्तवन किया करता है।

१—मन से अन्याय के विषय भोगो की इच्छा को दूर करना दुष्ट संकल्पो का त्याग करके अपनी उच्चता नही चाहना। दूसरे जीवों के विघ्न, इष्ट-वियोग, मान भङ्ग, तिरस्कार धन की हानि रोगादिक नहीं चाहना—यह 'मनोगुप्ति' नाम भावना है।

२—अपने मुख से कभी हास्य रूप भंड वचन नहीं कहना विवाद के वचन, अभिमान के वचन, कलह तथा अपयश के वचन अपनी ज़बान से नहीं कहना। यह 'वचन गुप्ति नाम' भावना है।

३—त्रसजीवों की हिंसा को टाल कर भूमि को शोध कर चलना फिरना तथा चढ़ना उतरना उल्लंघन अपने सामर्थ्य अनुसार इस ढंग स करना कि अपने हाथ पांव आदि अङ्गोपाङ्ग मे कोई वेदना न उपजे और न ही अन्य जीवों को ऐसा करने मे कोई बाधा हो—धीरे धीरे यत्नाचार पूर्वक हलन चलन करना–यह 'ईर्या समिति' नाम भावना है।

४—वस्तुओं को यत्नाचार पूर्वक ऐसे उठाना, रखना जिस से अन्य जीवो का घात न हो, उनके गिरने पडने से अपने शरीर मे पीडा न होवे, उनमे नुक़सान होने मे, उनके बिगड़-ने तथा टूटने फूटने से अपने परिणामों मे तथा अन्य के परिणामो मे सक्लेश उत्पन्न न होवे। इस प्रकार धरना, उठाना, घसीटना जो हिंसा और हानि का कारण है, नही करना। यह 'आदान निक्षेपण समिति' नामा भावना है।

५—गृहस्थी द्रव्य क्षेत्र काल भाव की योग्यता अयोग्यता विचार कर, दिन के समय अपनी आंखो से देख भाल कर बार २ शोधकर धीरे २ ग्रास को मुख मे देय भोजन करे। गृद्धिता के साथ, बिना विचारे, बिना शोधे भोजन नही करना 'आलोकित पान भोजन' नामा भावना है।

इस प्रकार अहिंसा के स्वरूप को नय चक्र द्वारा भली भांति जान कर ज्ञानी तथा विवेकी जनों का यह कर्तव्य है कि वे अपने २ पद के अनुसार हिंसा को त्याग अहिंसा धर्म का पालन करे और अपना आत्मकल्याण करे।

(अहिंसा के विषय मे जो विशेष जानना चाहे वे श्री अमृत-

चन्द्र आचार्य महाराज कृत पुरुषार्थ सिद्धयुपाय का स्वाध्याय करें)

सत्याणुव्रत ।

स्थूलमलीकं न वदति न परान्,
वादयति सत्यमपि
विपदे यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूल-
मृषावादवैरमणम् ॥५५॥

अर्थ—जो पुरुष आप स्थूल झूठ नहीं बोलता, दूसरे से झूठ नहीं बुलवाता और जिस वचन के बोलने से अपने पर या किसी अन्य पर आपत्ति आवे ऐसा सत्य भी नहीं कहे तो ऐसे पुरुष के स्थूल झूठ का त्याग कहा जाता है।

सत्य अणुव्रत का धारण करने वाला श्रावक क्रोधादि कषाय के वशीभूत होकर ऐसा वचन नहीं कहता जिससे दूसरे का घात हो जावे या अपवाद हो जावे, दूसरे के मत्थे कोई कलंक लग जावे। ऐसे सब वचन निंद्य हैं। जिन वचनों के कहने से मिथ्या श्रद्धान होता हो, धर्म छूटता हो, व्रत संयम को त्याग आचरणों मे शिथिलता आती हो, श्रद्धान बिगडता हो, ऐसे वचन कहने योग्य नहीं हैं। कलह विसंवाद पैदा करने वाले वचन, विषयानुराग की वृद्धि करने वाले वचन, महा आरम्भ में प्रवृत्ति कराने वाले वचन, आर्त्त ध्यान उत्पन्न करने वाले वचन, कामवेदना को प्रगट करने वाले वचन, दूसरे के लाभ मे अन्तराय डालने वाले वचन, दूसरों की आजीविका बिगाड़ने वाले वचन, अपना और पर का अपयश फैलाने वाले वचन यह सब वचन निंद्य हैं,

इनका बोलना योग्य नहीं। ऐसे सत्य वचन भी नहीं बोलने जिनसे अपने और परका बिगाड़ होता होवे, आपत्ति आती हो, अनर्थ होता हो, दुःख पैदा हो जावे, मर्म छेदा जावे, राज्य दंड हो जावे, धन की हानि हो जावे, ऐसा सत्य वचन भी झूठ ही है। गाली गलौच होना,नीच पुरुषों द्वारा बोले जाने वाले वचन बोलना, परके अपमान तिरस्कार करने वाले अहङ्कार भरे वचन बोलना—सब अयोग्य है।

जिन शासन के अनुकूल हितमित, प्रमाणीक, सन्तोषजनक, धर्मोद्योतक वचन बोलना ही श्रेष्ठ है। जिन वचनों के बोलने से न्याय रूप आजीविका का साधन होवे, अनीति और अन्याय की प्रवृत्ति छूटती हो वे ही वचन कहने योग्य है। ऐसे वचन कहने वाले सद्गृहस्थ के ही स्थूल असत्य के त्याग रूप दूसरा सत्य अणुव्रत होता है।

ससार मे मनुष्य जन्म बड़ी कठिनता से मिलता है मनुष्य जन्म मे ही वचन बोलने की शक्ति प्राप्त होती है, इसलिये मनुष्य को चाहिये कि अयोग्य वचन कदापि अपने मुख से न निकाले, वचन बोलने मे बड़ा यत्न करे, जो कुछ बोले सावधानता पूर्वक बोले। जिसने अपने वचन को बिगाड़ा उसने अपना मनुष्य जन्म बिगाड़ा। मनुष्य के बुरे भले सभ्य असभ्य होने की पहिचान उसके वचनों से ही होती है। आत्मा के समस्त गुण दोषादिक वचनों द्वारा ही प्रगट होते। वचनों द्वारा ही सत्यार्थ उपदेश देकर श्री अरहन्त भगवान् त्रैलोक्य वदनीय होकर भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग मे लगाते हैं, अनेक मिथ्यात्व भव्य जीवों का रा-

गादिक मल दूर कर अजर अमर पद प्राप्त कराते है। यह वचन कृत उपकार का ही तो प्रभाव है कि पंच परमेष्ठी मे भी सिद्ध परमेष्ठी से पहले श्री अरहन्त परमेष्ठी को ही नमस्कार किया गया है। संसार मे उज्जल वचन विनयके वचन, प्रिय वचन रूप भाषा पुद्गलवर्गणायें समस्त लोक मे भरी हुई है, उनकी कोई कमी नहीं है, कुछ कीमत देकर लानी नहीं पड़ती। मीठे विनय रूप कोमल वचनों के बोलने से अपनी जिह्वाको दुःख होता नहीं, शरीर मे कष्ट उपजता नही, ऐसा समझ असत्य वचन को दुःख का मूल जान शीघ्र ही त्याग करो और सत्य तथा प्रिय वचन ही मे प्रवृत्ति करो।

सत्य वचनके पंच अतिचार इस प्रकार है:—

१—परिवाद अर्थात मिथ्या उपदेश—शास्त्र के विरुद्ध उपदेश देना—स्वर्ग मोक्ष के कारणभूत चारित्र का अन्यथा उपदेश देना। परिवाद नामा अतिचार है।

२—कोई अपने से अपनी गुप्त वार्ता विश्वास का पात्र समझ कर कहे तो उसको उजागर कर देना, उसका ढोल पीट देना; किन्हीं स्त्री पुरुष की एकान्त मे गुप्त चेष्टा को देख कर तथा उनकी गुप्तवार्ता सुन कर दूसरों पर प्रगट कर देना "रहो भ्याख्यान" नाम का दूसरा अतिचार है।

३—दूसरे के दोषों को मालूम करके बिगाड़ करने के हेतुसे दूसरों से कहना, एक की दूसरे से चुगली करना, यह 'पैशून्य' नाम अतिचार है।

४—झूठे खत, काग़ज, स्टाम्प, दस्तावेजात का लिखना, बनाना,

जाली फर्जी कागजात दस्तावेजात बनाना, 'कूट-लेख क्रिया' नाम का अतिचार है।

५—कोई पुरुष रुपया जेवर आदि द्रव्य धरोहर रख गया हो, वह फिर अपना मांगने आवे, और भूल कर गलती से जितना रखा था उससे थोड़ा मांगने लगे, तो उससे कहना कि "हां हां ! जितना और जो कुछ तुम्हारा है लेलो" जान-बूझकर उस का पूरा द्रव्य न देना-यह'न्यासापहार' नामा अतिचार है।

सत्य अणुव्रत का धारी श्रावक इन ऊपर लिखे पांचों अतिचारों को न लगाता हुवा नीचे लिखी पांच भावनाओं का चिन्तवन किया करता है :—

(अ) क्रोधत्याग भावना—क्रोध के वश हो कर झूठ न बोलूं, क्रोधी के सत्य बोलना होता नहीं। क्रोध आने पर ऐसा चिन्तवन करने लगना कि अब मुझे क्रोध आ रहा है, बचन मुख से निकालना योग्य नहीं, मौन धारण करना ही इस समय श्रेष्ठ है। वचन नहीं बोलूगा तो झगड़ा विसंवाद नहीं बढेगा, कपाय का वेग मंद पड़ जावेगा। मेरे क्षमादि गुण नहीं बिगड़ेगे-जबतक क्रोध की अग्नि शान्त नहीं होगी, मैंने कोई बचन नहीं बोलना—ऐसा दृढ़ विचार करके सत्य अणुव्रत की 'क्रोध त्याग' नामा भावना होती है। लोभ के निमित्त से सत्य वचन मे प्रवृत्ति नहीं होती है इसलिये अन्यायके लोभ का त्याग करना 'लोभ त्याग' भावना है। भय के मारे मनुष्य सत्य वचन नहीं कहता इसलिये भय त्याग से सत्य अणुव्रत की 'भय त्यागनामा' भावना होती है

हँसी मजाक में सत्य नहीं बोला जाता, हास्य कषाय के वशीभूत होकर मनुष्य झूठ बोलता है, इसलिये सत्यअणुव्रती हास्यका दूर ही से त्याग करता है। इसी का नाम'हास्यत्याग' नाम भावना है।

जिन सूत्र के विरुद्ध वचन नहीं कहना सदैव जिन सूत्र के अनुसार वचन कहना 'अणुवीची' भाषण नामा भावना है।

अपने भोग उपभोग के साधन मात्र सदोष वचन का त्याग यदि नहीं हो सके तो उसका त्याग करने में बड़ा उद्यम रखना चाहिये। वृथा बहुत आरम्भ के कारण दुर्ध्यान के कारण, दूसरों को संताप के कारण ऐसे दूषित निर्दोष बचनों का तो त्याग करना ही श्रेष्ठ है। अणुव्रती श्रावक के इस प्रकार स्थूल असत्य का त्याग हुआ करता है।

अचौर्याणु व्रत

निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टं।
न हरतियन्न च दत्ते तदकृषचौर्य्यादुपारमणं ॥५७

अर्थ—जो किसी दूसरे के रखे हुवे, या गिरे हुवे अथवा भूले हुवे, न दिये हुवे, धन को न आप ग्रहण करता है और न किसी और को देता है, उसके स्थूल चोरी के त्याग रूप, अणुव्रत होता है।

किसी के जमीन में गड़े हुवे, मकान घर आदिक में रखे हुवे; अमानत के तोर पर रखे हुवे; किसी के मकान, गली, बाजार, सड़क पर पड़े हुवे; किसी के घर वर भूले हुवे, तथा गलती से

हिसाब किताब मे भूल चूक होने पर वाजिब निकलते हुवे रुपये पैसे वस्त्राभूषण आदिक, थोड़े या अधिक द्रव्य को बिना दिये न तो आप ग्रहण करे और न ही उस द्रव्य को उठाकर किसी और को देवे। इस प्रकार स्थूल चोरी का त्याग 'अचौर्य अणुव्रत' कहलाता है। इस व्रत का धारण करने वाला बहुमूल्य वस्तु को कम मूल्य में नही लेता है। वाणिज्यमे व्यवहार मे तथा सेवा चाकरी आदि में थोड़ा लाभ होता है तो वह थोड़े से ही सन्तुष्ट हो जाता है, अधिक की लालसा नही करता है।

अचौर्य अणुव्रत के पांच अतिचार हैं —

(१) चोर प्रयोग—आप तो चोरी नहीं करे परन्तु दूसरों को प्रेरणा करके चोरी करावे, चोरी करनेके उपाय बतावे, चोरी करने वालों की सहायता करे।

(२) चोरार्थादान—चोरी का माल लेना।

(३) विरुद्ध राज्यातिक्रम (विलोपन)—उचित न्याय को छोड़ कर अन्य रीति से द्रव्य का ग्रहण करना अथवा जिस कार्य का राजा की आज्ञा से निषेध होता हो उसका करना।

(४) सदृश सन्मिश्र—बहु मूल्य वस्तु मे थोड़े मोल वाली वस्तु को मिला कर बहु मूल्य वाली वस्तु कह कर बेच देना। जैसे अच्छे पवित्र घी मे बनावटी घी मिलाकर, पवित्र घी कहकर पवित्र घी के भाव से बेचना।

(५) हीनाधिकमानोन्मान—लेन देन के बाट, तराज़ू गज़ आदि का कम ज्यादह रखना। लेने के बाट और, और देने के बाट और रखना।

अचौर्य अणुव्रत का पालन करने वाला इन पाँचों अतिचारों का त्याग करता है, और नीचे लिखी पंच भावनाओं का चिन्तवन करता है:—

१-शून्यागार—ऐसे मकान में रहने की भावना करेगा जहाँ व्यसनी, दुष्ट तथा तीव्र कषायी कलह-प्रिय मनुष्यों का निवास न हो। ऐसे पुरुषों के साथ रहने से, या उनके पड़ौस मे बसने से परिणामों की शुद्धता नष्ट हो जाती है, आर्त ध्यान रुद्र ध्यान हो जाता है।

२-विमोचितावास—ऐसे मकान मे निराकुल बसना, रहना जिसमे किसी दूसरे का कोई झगड़ा न हो।

३-परोपरोधाकरण भावना—दूसरे के मकान मे अन्याय-जबरदस्ती से घुसकर उसको नहीं निकाले और आप वहाँ बैठ कर अपना क़ब्ज़ा जबरदस्ती न जमावे।

४-भैक्ष्य शुद्धि भावना—अन्याय और अभक्ष्य को त्याग करके, भोगान्तराय कर्मके क्षयोपशम के आधीन जो भी रस नीरस भोजन मिले उसे समतापूर्वक लालसा रहित होकर ग्रहण करे।

५-सधर्मा विसंवाद भावना—साधर्मी पुरुषों के साथ वाद विसंवाद नहीं करना।

चोरी करना महापाप है—चोर का कोई विश्वास नहीं करता, अपने पास बैठने तक नहीं देता—चोर की प्रतीति जाती रहती है। राज्यद्वारा तीव्रदंड भोगना पड़ता है। चोरी का दूर ही से त्याग करना योग्य है। जो धन द्रव्य अपने पुण्य पाप के अनु-

कूल मिलता है उसी मे संतोष धारण करना योग्य है, दूसरे के धन की वाञ्छा स्वप्न मे भी नहीं करनी चाहिये—दूसरे का धन भी पुण्योदय के बिना मिलता नही, यदि पर का धन हाथ लग भी गया तो उसको कोई कब तक भोगेगा, अन्याय का धन ठहरा नहीं करता। जो सन्तोष धारणकर अन्यायके धनपर कभी अपना चित्त चलायमान नहीं करते उनका ही यश संसार मे फैलता है, उनकी ही जनता मे प्रतीति होती है और वही समस्त जनों मे आदर योग्य है। जो पर के धन की अभिलाषा नही करते और अपने हाथ द्वारा कमाये हुए धन मे भी जिनका भेद राग है उनके पास क्लेश फटकता नही, पाप कर्मका बन्ध उनके होता नही, समस्त ससार उनके यश और कीर्ति का गान करता है। वे ससार की अनेक विभूति को चिरकाल तक भोग कर परपरा से निर्वाण पद को प्राप्त होते हैं। इसलिये वीतराग प्रभु का धर्म धारण करने वाले के लिये उचित है कि अन्याय के धन का त्याग करें। चोरी के समान कोई पाप नहीं है। चोरी समस्त उच्चता, कुल, कर्म धर्म का विध्वंस करने वाली समस्त प्रतीति बड़प्पन का नाश करने वाली है।

परस्त्रीत्याग तथा स्वदार संतोष अणुव्रत

न तु परदारान् गच्छति न परान्
गमयति च पापभीतेर्यत्।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदार-
सन्तोषनामापि ॥५९॥

अर्थ—जो पाप के भय से न तो आप पर की स्त्रियों के पास जाता है और न दूसरों का भेजता है, उसके पर स्त्री त्याग तथा स्वदार सन्तोष नाम का अणुव्रत होता है

भावार्थ—जो अपनी जाति कुलकी साक्षी पूर्वक विवाही हुई स्त्री मे संतोष रखता है, अन्य समस्त स्त्री मात्र में राग भाव का त्याग करता है; परस्त्री, वेश्या, दासी तथा कुलटा, कन्या आदिक स्त्रियोंमे उदासीन वृत्ति धारण कर उनके साथ वचनालाप, उनके स्पर्शन अवलोकन आदि का त्याग करता है वही परस्त्री का त्यागी तथा स्वदार संतोषी कहलाता है। इस व्रत के पाँच अतिचार कहते हैं:—

अन्य विवाहाकरणानंगक्रीड़ाविटत्व विपुलतृषः ।
इत्वरिका गमनं चास्मरस्य पंच व्यतीचाराः ॥६०

अर्थ—ब्रह्मचर्य अणुव्रत का पालन करने वाला नीचे लिखे अतिचार नहीं लगाता:—

१-अन्य विवाहकरण—अपने पुत्र पुत्रियों को छोड़ दूसरों के पुत्र पुत्रियों का विवाह करना कराना ।

२-अनंग क्रीड़ा—काम सेवन के अगों को छोड कर अन्य अंगों द्वारा काम क्रीड़ा करना।

३-विटत्व—मन, वचन, काय की प्रवृत्ति नीच करना, भण्ड-रूप चेष्टायें करना, पुरुष होकर स्त्री का रूप बनाना, स्वांग रचना स्त्रियों जैसी चेष्टायें करना।

४-अतितृष्णा—काम सेवन की तीव्र अभिलाषा रखना ।

५–इत्वरिकागमन—व्यभिचारिणी स्त्रियों के घर आना जाना उनको अपने घर बुलाना, उनसे लेन देन करना, परस्पर वार्तालाप करना, उनके रूप शृङ्गार को देखना।

स्थूल ब्रह्मचर्याणुव्रत के यह पाँचों अतिचार त्यागने योग्य हैं—जो देवों द्वारा वंदनीय ब्रह्मचर्य व्रतकी रक्षा करना चाहता है वह अपनी विवाही स्त्री को छोड़ अन्य माता, बहिन, पुत्री पुत्र-वधू के नजदीक भी एकान्त मे नही रहता, दूसरी स्त्रियों के मुख नेत्रादिक को अपनी आँखे उठाकर देखता तक नहीं। शीलवान पुरुषों के नेत्र अन्य स्त्री के देखने मात्र पर ही बन्द हो जाते हैं।

इस व्रत के धारक नीचे लिखी पंच भावनाओं का विचार किया करते है:—

१–स्त्रीरागकथा श्रवण त्याग—अन्य की स्त्रियों की राग उपजावने वाली, राग बढ़ाने वाली कथाओं के पढ़ने सुनने का त्याग करना।

२–स्त्रियों के मनोहर अङ्ग देखने का त्याग—अन्य की स्त्रियों के स्तन, मुख, जङ्घा नेत्र आदि मनोहर अङ्गों को राग परिणामों तथा विकृत भावोंके साथ देखने का त्याग करना—

३–पूर्व भोगे हुए भोगों के स्मरण का त्यागः—ब्रह्मचर्याणुव्रत के धारण करने से पहले अव्रति दशा मे जो भोग भोगे थे उनको याद नहीं करना।

४–पुष्ट—इष्ट कामोद्दीपन करने वाले भोजन त्याग करना।

५–स्वशरीर संस्कार त्याग—अपने शरीर मे अंजन, मजन, अतर तेल फुलेलादि काम विकार के जागृत करनेवाले पदार्थों को

लगाने का त्याग करना, कामोद्दीपन करने वाले वस्त्राभरणादि पहनने का त्याग करना, परिणामोंमे विकार पैदा कर देनेवाली सजावट, बनावट करने का त्याग करना।

ब्रह्मचर्यव्रत के धारण करने वालों को इन पाँचों भावनाओं का चिन्तबन करते हुवे कुशील सेवन से विरक्त होना ही योग्य है। कुशील पुरुष का विवेक जाता रहता है, उसकी चेष्टायें मदोन्मत्त-हस्ती सारखी हुआ करती है, उसके चित्त में भक्ष्या-भक्ष्य योग्य-अयोग्य का विचार जाता रहता है। प्रत्यक्ष आपदा अपयश होता देखता है तो भी काम की अन्धेरी उसकी आँखों के आगे ऐसी छा जाती है कि उसे कुछ नहीं सूझता। पशु में और कामांधमें कोई भेद नहीं रहता। कामांध के धर्म अधर्म का कोई विचार नहीं रहता, उसकी लोक लाज समूल नष्ट हो जाती है, मरकर दुर्गतियों मे नाना प्रकार के असह्य कष्ट भोगता हुआ संसार म परिभ्रमण किया करता है। शीलवान् पुरुष असख्यात काल पर्यन्त स्वर्गों के सुख भोग, मनुष्यों मे प्रधान मनुष्य हो परम्परा से मोक्ष के अव्याबाध सुख को प्राप्त होता है—ऐसा जान कुशील का त्याग और ब्रह्मचर्य अणुव्रत का पालन करना ही श्रेष्ठ है।

परिग्रह परिमाणाणुव्रत।

धनधान्यादिग्रंथं परिमाय ततोऽधिकेषु निस्पृहता।
परिमित परिग्रहः स्यादिच्छा परिमाणनामापि ६१

अर्थ—जितने से अपने परिणामों में संतोष आजावे

उतना धन धान्य, दासी दास, सवारी गृह क्षेत्र आदि परिग्रह का परिमाण करके उससे अधिक में वाञ्छा का न रखना परिग्रह परिमाण नामा अणुव्रत है। इसी को इच्छा परिमाण व्रत कहते हैं।

भावार्थ—किसी के पास यदि वर्तमान समय मे तो परिग्रह थोडा है, परन्तु अभिलाषा अधिक है, यदि वह ज्यादह धन परिग्रह की मर्यादा करता है तो वह भी धर्म बुद्धि व्रती है, परन्तु उसके लिये यह जरूरी है कि वह अन्याय से धन ग्रहण करने का त्याग दृढ़ रखे। जैसे अब किसी के पास सौ रुपये हैं, और वह परिग्रह परिमाण हजार रुपयों का करता है, कि हजार से अधिक ग्रहण नहीं करूँगा—यह भी व्रत है। परंतु ऐसा दृढ नियम करे कि हजार रुपये अन्याय से ग्रहण नहीं करूँगा।

परिग्रह समस्त पापों का मूल कारण है, इसी से दुर्ध्यान होता है। भगवान् ने "मूर्छा"को परिग्रह बताया है। बहिरङ्ग में वस्त्र मात्र तथा रहने को फूस की झोपड़ी मात्र भी न होते हुवे, यदि अन्तरङ्ग मे जरा भी ममता अर्थात् वाञ्छा बनी हुई है तो भी परिग्रही ही कहलाता है, अन्तरग का परिग्रह १४ प्रकार का होता है:—

१ मिथ्यात्व, २ वेद, ३ राग, ४ द्वेष, ५ क्रोध, ६ मान, ७ माया, ८ लोभ, ९ हास्य, १० रति, ११ अरति, १२ शोक, १३ भय. १४ जुगुप्सा।

बहिरंग का परिग्रह दश प्रकार का होता है—

१ क्षेत्र, २ वास्तु, ३ हिरण्य, ४ सुवर्ण, ५ धन, ६ धान्य,

७ दासी, ८ दाम, ९ कुप्य, १० भाँड ।

जिसके अन्तरग परिग्रह का अभाव हो जाता है उसके वाह्य परिग्रह में ममता नही होती–जगत मे समस्त अनीति का कारण परिग्रह है । परिग्रह की वाञ्छा मे ही मनुष्य झूठ बोलता है, चोरी करता है, कुशील सेवन करता है, परिग्रह के कारण ही आप अपने प्राणों का त्याग कर देता है, दूसरे को मारते हुये जरा शंका नहीं करता, परिग्रह के वश महा क्रोध करता है, परिग्रह के प्रभाव से ही महा अभिमान करता है, परिग्रह के लिये ही अनेक मायाचार प्रपंच रचता है । परिग्रह की ममता से ही महा लोभी होता है, बहुत आरम्भ करता, जमाने भर का आडम्बर रचता है, कषाय का मूल ही परिग्रह है । जो समस्त पापों से छूटना चाहते हैं, उन्हे परिग्रह से विरक्त होना ही योग्य है ।

वाह्य परिग्रह अन्तरंग परिग्रह के निमित्त है । इन वाह्य परिग्रह का देखना, सुनना, चिन्तवन करना ही परिग्रह मे लालसा पैदा करता है, ममता भाव जाग्रत करता है, मनुष्य को अचेत बना देता है । बहिरंग परिग्रह इस प्रकार मूर्छा का निमित्त कारण होने से त्यागने योग्य है ।

अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही परिग्रह हिंसारूप है । इन दोनो का त्याग अहिंसा है । इस प्रकार पाप के कारण परिग्रह का ममता को त्याग जितना भी अन्तराय कर्म क्षयोपशम से प्राप्त है उतने मे ही सन्तोष धारण करके आनन्द पूर्वक अपने जीवन को व्यतीत करो ।

यद्यपि समस्त परिग्रह त्यागने योग्य है परन्तु जो गृहस्थ मे

रह कर धर्म सेवन करना चाहते है उन्हे कुछ न कुछ थोड़ा बहुत परिग्रह अपने जीवन के निर्वाह अथ, अपने २ पुण्योदय के अनुसार रखना ही पडता है। जो गृहस्थ के परिग्रह नहीं होवे तो काल दुकालमे,रोग मे आपत्ति मे, व्याह मे मरण मे,परिणाम ठिकाने नहीं रहे, परिणाम बिगड जावें। इसलिये ग्रहस्थ धर्म की रक्षा के वास्ते एक ग्रहस्थ को अनिवार्य हो जाता है कि वह परिग्रह संचय करे ही, आजीविका का साधन न्याय द्वारा करे ही। क्योंकि कहा है कि साधु यदि तिलतुष मात्र भी परिग्रह रखता है तो दोनों लोकों मे भ्रष्ट हो जाता है, और ग्रहस्थ यदि परिग्रह नही रखता तो वह भी भ्रष्ट हो जाता है, इसलिये ग्रहस्थ मे थोड़ा बहुत परिग्रह संग्रह किये बिना परिणामों मे स्थिरता नहीं रहती । यदि आजीविका नही होती है तो इसके बिना स्वाध्याय मे, पूजन मे, धर्मध्यान मे, परिणाम नही टिकते। संतोष रहता नहीं, मारे आकुलता के सक्लेश परिणाम बढते ही चले जाते है। किसी काल मे भी परिणामों मे स्थिरता नही आने पाती। आजीविका के बिना शरीर की स्थिति नहीं, रक्षा नही, शरीर बिना व्रत, शील, सयम, रूप, धर्म का साधन काहे से करे ? इसलिये ग्रहस्थ के लिये आवश्यक है कि देश काल को विचार अपने पुरुषार्थ, शक्ति, सहायक साधनो को ध्यान मे रख न्यायमार्ग से आजीविका करके धर्म का सेवन करे। अहिंसा से, सत्य प्रवृत्ति से, बिना दिये परके धनग्रहण का त्याग करके इत्यादि शुभ चारित्र का पालन कर अपने को लोगों का विश्वासपात्र बनावे। कला, चातुर्य, विद्या आदि प्राप्त कर आजीविका कमाने की योग्यता प्राप्त करे। फिर लाभाँतराय

कर्म के क्षयोपशम जो कुछ भी हीनाधिक लाभ हो उसी मे संतोष करे। उसीके अनुसार अपना और अपने कुटुम्ब का पालन पोषण करे। ऋणवान मत होवे, ऋण सिर हो जाने के बाद प्रतीति जाती रहती है दीनता आ जाती है, अपनी साख बिगड़ जाती है, साख बिगड़े पीछे फिर आजीविका का होना कठिन हो जाता है। किसी विशेष पुण्यवान की देखादेखी अपनी आमदनी से बाहर कदापि खर्च मत करो, यदि खर्च करोगे तो यश, धर्म और नीति तीनों नष्ट हो जावेगे। दारिद्री हो दोनों लोकों से भ्रष्ट हो जाओगे। कोई समझे कि यदि हम अमुक अवसर पर धन खर्च नही करेंगे तो हमारे बड़प्पन मे फर्क आजावेगा हमारी नाक कट जावेगी। भाई ऐसी बुद्धि करना योग्य नही, पुण्य अस्त होने पर बड़प्पन किसका रहा ? और बड़प्पन इस प्रकार खर्च करने मे नही है, बड़ापना तो सत्य संतोष धारण करने से, ब्रह्मचर्य के पालन करने से, चारित्र धारण करने से, विनय करने से, दीनता रहित बनने से, इंद्रियों के विषय भोगों की इच्छा के घटाने से होना है। कर्म की गति की विचित्रता पर विचार करो। जब जीव के शुभ कर्म का उदय होता है खोई हुई वस्तु स्वयम् मिल जाती है, अनेक सुखसाता की सामग्री आजुटती है चक्रवर्ति बन जाता है, महा ऋद्धिका धारी देव हो स्वर्गों के सुखों को भोगता है। पापोदय से क्षण मात्र में राजा से रंक हो जाता है, रोगी हो जाता है—कौन से बड़ेपने को देखोगे ? अभिमान के वश होकर यदि सामर्थ्य से बाहर खर्च कर भी दिया तो ऋणी हो जावोगे। दीन हो जावोगे, लोगों की दृष्टि मे नीच जँचने लगोगे, लोग आप ही

आप तुम्हारी निन्दा करने लग जावेगे, आर्तध्यान उत्पन्न होकर दुर्गति के पात्र बन जाओगे। प्रवीणपना, पडित पना, कुलवान पना, धर्मात्मा पना सब इसी मे है कि अपनी वित्त के अनुसार खर्च करो, अन्यथा करजदार हो जाने मे समस्त आदर सत्कार आचरण सब नष्ट हो जायेगे, मलीनता आ जायगी, शुभ ध्यान मे बुद्धि नहीं तिष्ठेगी इसलिये संतोष पूर्वक अपनी आजीविका से कम खर्च करना ही ग्रहस्थ की परम नीति है।

आजीविका की स्थिरता के बिना धर्म साधन भी नहीं बन आता है। जिसके आजीविका स्थिर होती है उसके धर्म सेवनमे योग्यता होती है। जिसके इन्द्रियोकी परिपूर्णता, नीरोगता होती है, न्याय अन्याय का विवेक होता है, धर्म अधर्म, योग्य, अयोग्य का विचार होता है। जिसके वचन प्रिय होते है, जो विनयवान होता है, जो पराये धन और पराई स्त्री की ओर झूठेमे भी आख उठा कर देखता तक नही, जिसके आलस्य और प्रमाद नही, जो धीर और वीर है, देश काल के अनुसार वचन कहने की योग्यता जिस मे है उसके आजीविका और धर्म दोनों का लाभ अवश्य होता है। गुणवान, निर्लोभी, आलस्य रहित उद्यमी विनयवान के लिये आजीविका दुर्लभ नही होती है। पहले आप आजीविका के योग्य पात्र बनिये, फिर आजीविका दूर नही रहती थोड़ी बहुत आजीविका नियम पूर्वक लाभांतराय कर्म के क्षयोपशम प्रमाण अवश्य मिलकर रहेगी। उस मे सन्तोष धारण कर आनन्द पूर्वक रहो। आजीविका प्राप्त हो जाने पर अन्याय और अनीति रूप प्रवृत्ति ग्रहण करके उसे नष्ट नहीं करना चाहिये। यदि तीव्र

असाता वेदनी कर्म के उदय से भ्रष्ट ही होजाती है तो उसमें दुःखी मत हो, संक्लेशित होकर धर्म का पालन तो मत छोड़ो। अपने से अधिक दीन हीन जीवों की दशा पर विचार करके अपने परिणामों में समता धारण करो, धीर्य के साथ अपने कर्तव्य का पालन करते रहो, ऐसा यत्न करो कि धर्म न छूटने पावे, जैसा भी भोजन रस नीरस मिले खाकर अपने को धन्य समझो। यदि ऐसे दृढ़ परिणाम होंय और जितना मिला है उसी मे सन्तोष कर वांछा रहित होंगे तो वर्तमान समय मे तो दुःख ही नहीं होगा और समस्त पाप कर्म की ऐसी निर्जरा होगी कि घोर से घोर तपश्चरण करने पर भी कठिनता से हो सके।

अब आगे परिग्रह परिमाण व्रत के पंच अतिचार कहते हैं:-

अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि।
परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते॥

परिग्रह परिमाण व्रत के पांच अतिचार यह हैं:—

१—अतिवाहन—आवश्यकता से अधिक सवारी का रखना या सवारी के जानवर जैसे बैल, ऊंट, घोड़ा आदिक तथा दासी दास आदि सेवकों को अति लोभ के वश होकर मर्यादा रहित अति दूर की मंजिल (सफर) कराना, बिना आराम दिये या आवश्यकता से कम आराम देकर उनको बहुत चलाना 'अति-वाहन' नाम का अतिचार कहलाता है।

२—अतिसंग्रह—अपने घर में व्यर्थ ही बहुत-सी प्रयोजन-रहित

वस्तुओं का इकट्ठा कर लेना। बर्तन, कपड़े, जेवर आदिक जितनी वस्तुओं की जितनी आवश्यकता हो उससे अधिक संग्रह करके रखना या उनके एकत्रित करने मे बहुत लालसा बनाये रखना।

३—अति विस्मय—दूसरों की अधिक संपदा तथा विभूति को देख कर या दूर दूर के अनेक देश देशान्तरों की वस्तुओं को जो पहले न कभी देखी हो, न सुनी हों, देख कर या सुन कर आश्चर्य करना विस्मय नाम का अतिचार है।

४—अति लोभ—अपने को अन्तराय कर्म के क्षयोपशम होने पर वाणिज्य, व्यापार तथा नौकरी-चाकरी या किसी हुनर कला आदि द्वारा लाभ हो जाने पर भी तृप्त नही होना, संतोष नही धारण करना, यह अति लोभ नाम का चौथा अतिचार है।

५—अतिभार वाहन—पशुओं पर या सेवकों पर लोभ के वशीभूत होकर उनकी सामर्थ्य से बाहर अधिक बोझ लाद कर उनको चलाना, अतिभार वाहन नाम का अतिचार है।

परिग्रह परिमाण व्रत का धारी श्रावक इन पाँचों अतिचारों को नही लगने देता और नीचे लिखी पंच भावनाओं का चिंतवन निरन्तर किया करता है—

१—बहुत पाप बन्ध के कारण अन्याय रूप अभक्ष्य पदार्थों के सेवन का यावज्जीवन त्याग करे।

२—अंतराय कर्म क्षयोपशम प्रमाण अपने को जो पाँचों इन्द्रियों के विषय भोगों की सामग्री मिली है उस मे ही सन्तोष धारण करना।

३—मनोज्ञ इष्ट पदार्थों के प्राप्त हो जाने पर उनमें अति राग नहीं करना और उनमे अति आसक्त नही होना।

४—अमनोज्ञ तथा अनिष्ट पदार्थों के मिलने पर उनसे द्वेष नहीं करना तथा अपने परिणामों मे संक्लेशित नहीं होना।

५—दूसरों की सुन्दर २ विषय भोग सामग्री को देखकर लालसा नहीं करनी–मन नहीं ललचाना।

परिग्रह परिमाण अणुव्रत के धारण करने वाले को यह पाँचो भावनायें भावनी योग्य है। इनका चिन्तवन करने से व्रत पालन में दृढ़ता आती है। परिग्रह से ही पंच पापो मे जीव की प्रवृत्ति होती है। संसारी जीवों को परिग्रह धारण करने से तृप्ति नही होती। जैसे अग्नि मे जितना २ अधिक ईंधन डाला जाता है उतनी ही अधिक अग्नि भड़कती है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों संसारी जीवों को विषय भोग पदार्थों की प्राप्ति अधिक २ होती जाती है उतनी २ ही तृष्णा की दाह अधिक २ बढ़ती चली जाती है–शाँति नही मिलती। परिग्रह के संग्रह करने मे, उसके रक्षण में महा दुःखी होना पड़ता है। बहु परिग्रही सुखी नहीं होता, उसके चित्त मे धर्म-अधर्म, जीवन-मरण, हेयोपादेय आदि का विचार नहा रहता। हिंसा, झूठ, चोरी, अभक्ष्य भक्षण, बहु आरम्भ, कलह, बैर, ईर्ष्या, भय, शोक-संताप आदि हजारों दोषों मे प्रवृत्ति एक इस परिग्रह की लालसा से ही होती है। संसार मे बधबंधन, पराधीनता, कषाय और दु.ख आदि जो भी दृष्टिगोचर हो रहे हैं इन सब का मूल कारण परिग्रह ही । ऐसा जान भव्य जीवों को उचित है कि गृहस्थ मे रहते हुवे मंद रागी बनें, प्रामाणिक परिग्रह

को धारण करें, आगामी के लिये कोई वाञ्छा न करें, अन्याय का धन कदाचित् ग्रहण नहीं करें, अल्प परिग्रह में ही सन्तोष रक्खे और परिग्रह को सदैव दुःख का देने वाला और अत्यन्त अस्थिर जान उस के सर्वथा त्याग की भावना भाते रहें।

पंचाणुव्रत धारण करने का फलः—

पंचाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणा फलन्ति सुरलोकं
यत्रावधिरष्टगुणा दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते ॥६३॥

अर्थ—पूर्वोक्त पंच अणुव्रतों का निरतिचार पालन करने से. जीव को स्वर्ग लोक की प्राप्ति होती है, जहां अवधि ज्ञान और अणिमा महिमा आदि आठों सिद्धियां तथा सप्त धातु रहित दिव्य शरीर की प्राप्ति होती है।

पंच अणुव्रतधारियों में जो प्रसिद्ध हुवे उनके नामः—

मातङ्गो धनदेवश्च वारिषेणस्ततः परः।
नीली जयश्च संप्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमम् ॥६४॥

अहिंसाणुव्रत का पालन करके यमपाल चण्डाल, सत्यअणुव्रत को धारण करके धन देव वणिकपुत्र, अचौर्यव्रत का पालन करके वारिषेण राजपुत्र, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करके नीली नाम की सेठ पुत्री, परिग्रह परिमाणव्रत धारण करके जयकुमार, देवों द्वारा पूजनीय हुवे।

हिंसादि ५च पापों में जो प्रसिद्ध हुवे।

धनश्रीसत्यघोषौ च तापसारक्षकावपि ।
उपाख्येयास्तता श्मश्रुनवनीतो यथाक्रमम् ॥६५

हिंसा के कारण धनश्री
झूठ बोलने से सत्यघोष
चोरी से तापसी
कुशील से कोतवाल
परिग्रह से श्मश्रुनवनीत

भावार्थ—इस लोक में राज्य द्वारा तीव्र दण्ड के भागी बने और दुर्गति को प्राप्त हुवे ।

(इन कथाओं को आराधना कथा कोष में पढो)

श्रावक के अष्ट मूल गुण

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमा ॥६६

अर्थ—गणधर देव ने पाचों अणुव्रतों के पालन करने तथा तीन मकार अर्थात् माँस मदिरा मधु के त्याग का अष्ट मूल गुण कहा है ।

१ अहिंसाणुव्रत—त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग करना ।

२ सत्याणुव्रत—अपने और परके क्लेश उत्पन्न कर देने वाले तथा अपने और दूसरे के सच्चे श्रद्धान, ज्ञान, आचरण को भ्रष्ट कर देने वाले वचन कहने का त्याग करना ।

३ अचौर्याणुव्रत—बिना दिये, दूसरे के रखे हुवे, जमीन मे गड़े हुवे, पडे हुवे, भूले हुवे धन के ग्रहण का त्याग।

४ स्वदारसंतोषअणुव्रत—अपनी स्त्री को छोड़ अन्य समस्त स्त्रियों मे राग भाव का त्याग।

५ परिग्रह परिमाण अणुव्रत—न्याय पूर्वक कमाये हुवे धन आदिक परिग्रह का परिमाण करना।

६ माँस का त्याग—माँस त्रस जीवों के घात से ही उत्पन्न होता है। जिस जीव का माँस होता है उसमे उसी जाति के निगोद रूप अनन्त जीव पैदा होते रहते है। माँस की डली मात्र को खाने या छूने से ही अनेक जीव समूह की हिंसा होती है। माँस खाने वाले को हिंसा का महा पाप लगता है, उसके परिणाम क्रूर हो जाते है। देवी देवताओं के सामने उनको प्रसन्न करने के निमित्त माँस की बली आदि चढ़ाना सब महा हिंसा है, घोर दुर्गति का कारण है।

७ मदिरात्याग—मदिरा, भंग, चरस, गाजा, कोकीन आदिक नशा उत्पन्नकरने वाले पदार्थों का त्याग मद्यत्याग कहलाता है। मदिरा तो अनेक पदार्थों के सडाने से बनती है, इस का सेवन करने से महान हिंसा होती है। मादक पदार्थों के सेवन करने से धर्म बुद्धि नष्ट हो जाती है, भक्ष्याभक्ष्य का विवेक जाता रहता है, शरीर के लिये भी मादक पदार्थ अत्यन्त हानि कारक होते है ऐसा जान कर इनका त्याग करना ही श्रेष्ठ है।

८ मधुत्याग—मधु (शहद) मक्खियों का उगाल होताहै। इसके आश्रयभूत बहुत से जीव होते है। मधु छत्ते मे से

छल कपट करके लिया जाता है। मधु को यदि छत्ते को न तोड़ कर अन्य रूप से भी लिया जाता है तो भी उसमे हिंसा बहुत होती है क्योंकि उसमे अनेक जन्तु रस के कारण उत्पन्न होते रहते और मरते रहते हैं। इसलिये ऐसी अपवित्र, हिंसा की खान, घृणा उत्पन्न करने वाली अपवित्र चीज़ का त्याग करना ही उचित है। किन्हीं आचार्यों ने मांस, मदिरा, मधु, और पाँच उदम्बर फल के त्याग को अष्ट मूल गुण कहा है।

पाँच उदम्बर फल ये हैं:—

(१) बड फल (२) पीपल फल (३) पाकर फल (४) गूलर (५) कठूमर। इन सब मे त्रस जीव पाये जाते हैं। इनमे से किसी मे कभी साफ दिखाई न भी पडे तो भी उनके पैदा होने की पूर्ण सम्भावना है। इसलिये जीव दया के हेतु इन का त्याग ही उचित है।

गुणव्रत

दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोग परिमाणम्।
अनुबृंहणाद्गुणानामाख्यान्ति गुणवृतान्यार्याः।

अर्थ—भगवान् गणधरदेव १ दिग्व्रत, २ अनर्थ दंडव्रत तथा ३ भोगोपभोग परिमाणव्रत इन तीनों को गुणव्रत कहते हैं क्योंकि यह अणुव्रतों की गुणारूप से वृद्धि करते हैं।

दिग्व्रत

दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि
इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपाप विनिवृत्त्यै ॥

अर्थ—दिशाओं का परिमाण करके कि इमसे बाहर नहीं जाऊँगा, पाप की निवृत्ति के अर्थ जीवन पर्यन्त दृढ़ संकल्प कर लेना दिग्व्रत नाम का गुणव्रत है।

भावार्थ—गृहस्थ अपने कारोबार को जानता हुआ कि अमुक दिशा में अमुक क्षेत्र से आगे वनज व्यापार सम्बन्धि कोई कारबार नहीं करना लोभ त्याग के निमित्त अहिंसा धर्म की वृद्धि के हेतु ऐसा त्याग करे कि मरण पर्यन्त दसों दिशाओं से बाहर नहीं जाऊँगा, न किसी को बुलाऊँगा न किसी को भेजूगा न कोई वस्तु मंगाऊंगा, ऐसा दृढ़ निश्चय करके लोभ कषाय के जीतने के अर्थ दिग्व्रत का धारण करता है।

मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि मर्य्यादा।
प्राहुर्दिशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ॥ ६६ ॥

उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, अधो और ऊर्ध्व इन दसों दिशाओं के त्याग में प्रसिद्ध समुद्र, नदी, पर्वत, वन, देश और योजन को मर्यादा कहते हैं। अर्थात् इन दसों दिशाओं मे गमन करने का परिमाण जीवन पर्यन्त किया जाता है और यह परिमाण किसी प्रसिद्ध समुद्र, नदी, पर्वत, वन, नगर आदि स्थानों की हद को लिये हुए होता है। जैसे किसी

पुरुष ने परिमाण किया कि उत्तर में वह हिमालय से परे याव-ज्जीव नही जावेगा तो वह दिग्व्रत का पालन करते हुवे उत्तर मे हिमालय से परे कभी नही जावेगा। इसी प्रकार अन्य दिशाओं को भी समझ लेना चाहिये। पर्वतादिपर चढने की अपेक्षा ऊर्ध्व दिशा का और कूप, बावड़ी, खान मे नीचे उतरने की अपेक्षा अधो दिशा का परिमाण कर लेना बताया है।

अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम्।
पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥ ७० ॥

अर्थ––दिग्व्रत के धारण करने वाले श्रावक के अ-णुव्रत–मर्यादा से बाहर अणुमात्र भी पाप प्रवृत्तिका अभाव हो जानेके कारण–पंच महाव्रत रूप परणति को प्राप्त हो जाता है।

महाव्रत रूप परणति क्यों होती है !

प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः।
सत्त्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥ ७१ ॥

अर्थ–अणुवृत्ति गृहस्थके प्रत्याख्यानावरणकषाय का उदय मौजूद है। जिससे उसके संज्वलन कषाय के मद उदयरूप परिणाम कष्टसे भी होने दुर्लभ हैं। इसी लिये मर्यादा से बाहर के समस्त पापों का त्याग होते हुवे भी महाव्रत नहीं होता, महाव्रत की कल्पना की जाती है।

महाव्रत तो प्रत्याख्यानावरणकषाय के उदय का अभाव हो जाने पर ही होते हैं।

अब यह बताते हैं कि महाव्रत कैसे होते हैं:—

पञ्चानां पापानां हिंसादिनां मनोवचःकायैः।
कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम् ॥७२

अर्थ—हिंसादि पंच पापोंका मन वचन और कायसे तथा कृत कारित अनुमोदना से त्याग कर देना महा पुरुषोके महाव्रत होता है।

दिग्व्रतके पंच अतिचार

ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्र वृद्धिरवधीनाम्
विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पंच मन्यन्ते ॥७३॥

१. ऊर्ध्वातिक्रम—परिमाण से अधिक ऊँचाई के वृक्ष पर्वतादि पर चढ़ना।

२. अधोतिक्रम—परिमाणमें अधिक नीचाई तथा गहराई तक किसी कूप बावड़ी खान, समुद्र आदिमें उतरना।

३. तिर्यक् अतिक्रम—बिल, पर्वतादि की गुफाओं तथा सुरंगो में टेढ़ा जाना।

४. क्षेत्र वृद्धि—परिमाण की हुई दिशाओं के क्षेत्र से अधिक क्षेत्र बढ़ा लेना।

५. विस्मरण—दिशाओंकी की हुई मर्यादा को भूल जाना।

ये दिग्व्रतके पाँच अतिचार कहे हैं:—

अनर्थ दंड त्याग व्रत

अभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थिकेभ्यः सपापयोगेभ्यः ।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रत धराग्रण्यः ॥७४॥

अर्थ—दिग्व्रत द्वारा दिशाओं की की हुई मर्यादा के भीतर, मन वचन काय योगों की व्यर्थ प्रवृत्ति के रोकने को, व्रत धारण करने वालों में शिरोमणि श्री तीर्थंकर भगवान् अनर्थ दंडव्रत कहते हैं ।

भावार्थ—दिग्व्रत धारण करके जब दिशाओं की मर्यादा नियत करली तो फिर उस मर्यादा के अन्दर रहते हुवे अन्य व्यर्थ की पाप बढाने वाली क्रियाये भी नहीं करनी चाहिये । जिस कार्य के करने से अपने किसी प्रयोजन की सिद्धि न हो वृथा पाप का बध हो और दंड भोगना पड़े, वह अनर्थ दंड है । अनर्थ दंड त्यागने योग्य है । जिस काम के करने से अपने विषय भोगो की भी कोई सिद्धि न होती हो, कुछ लाभ भी न होता हो, यश भी न हो, न ही धर्म हो और पाप का निरन्तर बंध होता होवे और उसके दुर्गतिरूप दुःखमय फल को अवश्य भोगना पड़े तो ऐसा अनर्थ दंड तो बुद्धिमानों द्वारा त्यागने योग्य ही कहा है ।

अनर्थ दण्ड के पाँच भेद

पापोपदेशहिंसा दानापध्यानदुःश्रुतीः पंच ।
प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥७५

अर्थ—अशुभ मन वचन काय योग को दंड कहते

हैं, क्योंकि संसारी जीवों को दुर्गति में नाना प्रकार के दुःख देने वाले ये ही हैं। इसलिये अशुभ योगों को धारण नहीं करनेवाले को अदंडधर कहा। अदंडधर गण-धर भगवान् को ही समझिये।

भावार्थ—अदंडधर गणधर देवादि १ पापोपदेश, २ हिंसा-दान, ३ अपध्यान, ४ दुःश्रुति, ५ प्रमादचर्या इन पाँचों को अनर्थ दण्ड कहते है। यूं कहिये कि यह पाचों अनर्थ दंड के भेद हैं।

पापोपदेश अनर्थ दण्ड

तिर्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भ प्रलम्भनादीनाम्।
कथा प्रसंगप्रसवः स्मर्त्तव्यः पाप उपदेशः ॥७६॥

अर्थ—तिर्यंचों को क्लेश उत्पन्न करनेवाली, वणज अर्थात् बेचने खरीदने की, हिंसा की, आरंभ की, छल-कपट द्वारा ठगने की, इत्यादिक पाप उपजने की कथा में बार२ प्रवृत्तिरूप उपदेश देना पापोपदेश नामा अनर्थ दंड है।

१ तिर्यक्क्लेश—पशुओं को मारने का, उनको जलाने का, उनको दृढ़ बांधने का, उनके मर्म स्थल को छेदने का, भेदने का, उनके ऊपर मर्यादा से बाहर अधिक बोझा लादने का, उनको बधिया करने का, उनकी नाक फोड़ने का, पशु पक्षियों को जाल में पक-ड़ने का, तथा उनको पींजरे आदि में रोकने का, मनुष्यों तथा तिर्यंचों के भोजन पान रोकने का, जेलखाने मे डालने का, या

उनकी संतान का वियोग करने का, खोटे मिथ्यात्व मायाचार, विषयलम्पटता, भोगविलास प्रियता के बढ़ानेवाले शास्त्रों का पढ़ने पढ़ाने का, अभक्ष्य सेवन करने का, रात्रि को भोजन करने का, सप्तव्यसन सेवन करने का, झूठ बोलने का, झूठी गवाही देने का, व्यभिचार करनेका, महारंभ करने कराने का, परिणामों मे सक्लेश उत्पन्न करनेवाला, परस्पर मे कलह झगडा उत्पन्न करनेवाला या बढ़ादेने वाला, वृथा पापरूप उपदेश नहीं करना। ऐसी बातों का उपदेश देना तिर्यक् क्लेश नामका पापोपदेश है।

२ हिंसोपदेश—पापरूप वणज का उपदेश तथा जिन व्यवसायों के करने से छह काय के जीवो की हिंसा होती हो उनका उपदेश देना हिंसोपदेश है।

जिन कार्यों के करने मे हिंसा बहुत होवे और लाभ किंचित होवे उनको नहीं करना चाहिये। बूढ़ो की शादी का उपदेश देना, पुत्र कन्या के विक्रय का उपदेश देना, राजा का महसूल आदिक चुराने का उपदेश देना तथा इन सब क्रियाओं को स्वयम् करके दूसरों को दिखाना हिंसोपदेश है। रुपया निन्द्य कर्मियोको उधार देकर उनसे ब्याज लेकर खाना योग्य नही है, धूर्तता दिखाय दूसरे भोले भाले जीवो का ठगना पाप है। निंद्यकर्मियो को अपना मकान किराये पर देना पाप है, कुव्यसनी अन्याय मार्गी, मांस भक्षी, मद्यपानी, वेश्या आशक्त परस्त्री लपटी अधर्मियो की संगति करना पाप है। अपने को दीन न समझो दूसरों के कलह विषाद देख हर्षित मत होवो, दूसरों का लाभ देख तथा उनको उन्नति करते हुवे देख ईर्षा मत करो। दूसरों की

वृथा जयपराजय का चिंतवन मत करो गाली तथा भंड वचन मुख से मत निकालो, अपने दरिद्रता आते हुवे देखकर संक्लेशित न होवो, किसी से याचना मत करो दीनता के वचन मत कहो। नीच प्रवृत्ति कर आजीविका मत करो। दूसरों का अपयश, अपमान तथा अपवाद सुन हर्षित मत होवो। दूसरों को कमाते खाते देखकर विषाद मत करो-किसी नीच काम को मत करो, मंदिरमे विकथायें मत करो, कितने ही भाई बहिन मंदिर मे आकर अपनी जाति अपने कुल के झगड़े विसंवाद छेड़ देते है, यह सर्वथा त्याज्य है। मन्दिर मे बैठ सगाई विवाह संबन्धी लेनदेन का कोई झगड़ा मत करो—मंदिर मे खाने पीने सबधी बातें अथवा कोई हँसी मजाक की बातें न करो। दुर्ध्यान के उत्पन्न करनेवाले क़िस्से कहानियाँ मंदिर मे मत पढ़ो, न सुनो सुनाओ। यह सब पाप बन्ध के कारण हैं।

३—वृथा आरम्भ करने का उपदेश मत दो—यत्नाचार पूर्वक अपनी चीजों को उठाओ और रखो।

४—किसी को ठगो नहीं और न ही ठगने का उपदेश दो—मायाचारी का त्याग करो।

हिंसादान अनर्थदंड।

परशुकृपाण खनित्र ज्वलनायुध शृङ्ग शृङ्खलादीनाम्
वधहेतूनांदानं हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः ॥ ७७ ॥

अर्थ—हिंसा के कारण फर्सा, खड्ग, बर्छी, अग्नि, आयुध, विष, बेड़ी जंजीर, इत्यादि वस्तुएँ दूसरे पुरुषों को

बिना प्रयोजन मांगे देना, बेचना, किराये पर देना सब हिंसादान नाम का अनर्थदण्ड है । ऐसी क्रियाओं का त्याग करना हिंसादान अनर्थदण्ड व्रत है ।

अपध्यान अनर्थ दंड

वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः ।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥७॥

अर्थ--जिन शासनमें प्रवीण महान पुरुषों, शत्रुता तथा द्वेष भाव से दूसरों के स्त्री पुत्रादि के मारन ताड़न बध बन्धन छेदन भेदन आदि के चिन्तवन करने को अपध्यान अनर्थदंड कहते हैं । दूसरों का बुरा चिन्तवन करने से अपने को कुछ लाभ नहीं होता—दूसरों का बुरा किसी के चाहे से होता नहीं, जबतक उनके पुण्य कर्म का उदय है उनका कोई क्या बिगाड़ कर सकता है—उनका भला बुरा होना उनके पुण्य पाप के आधीन है । हमारे उनके प्रति बुरा चिंतवन करने से महा पाप का बन्ध अवश्य हो जाता है । इस प्रकार वृथा दुर्ध्यान करने का नाम अपध्यान अनर्थदंड है ।

दुःश्रुति अनर्थदंड

आरम्भ संग साहस मिथ्यात्वद्वेष रागमदमदनैः ।
चेतःकलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुतिर्भवति ॥७६॥

अर्थ—आरंभ, परिग्रह, वीर शृंगार रस से भरी कुकथाओं और मिथ्यात्व, रागद्वेष, काम तथा भोगविलास की लालसा उत्पन्न करने वाले, चित्त को कलुषित कर देनेवाले शास्त्रों का सुनना दुःश्रुति नामा अनर्थ दंड है।

भावार्थ—रागद्वेष, मोह आदि विकार भावों के बढ़ानेवाली अज्ञान से भरी हुई दुष्ट कथाओं का सुनना, उनकी रचना करना उनको पढ़ना पढ़ाना सब व्यर्थ है—उनके पढ़ने पढ़ाने तथा सुनने सुनाने से कोई धर्म नहीं होता व्यर्थ ही उपयोग लगाना पडता है। पापरूप कथन होने के कारण उपयोग भी पापरूप हो जाता है। वृथा ही पापका बन्ध होता है जिसका फल भोगना पड़ता है। इसी कारण दुष्ट पापरूप कथाओं का सुनना संग्रह करना, सीखना इत्यादि सब ही बाते त्यागने योग्य है। मिथ्यात्व तथा रागद्वेष वर्द्धक कामोत्पादक शास्त्रों का सुनना, मायाचार और हिंसा के प्ररूपक दुष्ट शास्त्र, दुष्ट कथा, दुष्टराग, दुष्ट चेष्टा, दुष्ट क्रिया तथा दुष्ट कामों का सुनना दुःश्रुति नामा अनर्थदंड है।

प्रमाद चर्या अनर्थदंड।

क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदं।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्या प्रभाषन्ते॥८०॥

अर्थ—व्यर्थ ही पृथ्वी खोदने का, पत्थर वगैरह फोड़ने तोड़ने का, जल पटकने, सींचने या छिड़कने का, जल बिलोने का, जल रोकने का; बिना प्रयोजन अग्नि

जलाने का, बुझाने का; पवन आदि चलाने का, पंखे चलाने का, उनको रोकने का, बिना प्रयोजन बनस्पति छेदन का, व्यर्थ गमन करने कराने का आरंभ करना प्रमादचर्या अनर्थदंड है ।

भावार्थ—बिना प्रयोजन भूमि का कुचलना, वृक्ष की शाखाओं को तोड़ना मरोडना, हरे पत्तों को तोडना घास वग़ैरह को वृथा पाँवों के नीचे रोंदना; वृक्षों के पत्तों तथा फूलों का वृथा ही चीरना फाडना; वृथाही पानी का गिराना यह सब पापरूप क्रियाएँ है । पाप से भयभीत होकर इन्हे मत करो । अपनी चलने फिरने, भागने दौडने, खाने-पीने, रखने-उठाने की समस्त क्रियाओं को देख भाल यत्नाचार पूर्वक करो । प्रमाद का त्याग करो--अपनी प्रवृत्ति ऐसी बनाओ कि दया पले और अपने शरीर मे कोई बाधा न होवे और न कोई हानि होवे । प्रमाद तथा असावधानता पूर्वक कोई बचन मत कहो । एकान्तरूप हठग्राही पक्षपाती मत होवो धर्म बिगड़ जायगा, यदि इस लोक तथा परलोक में अपने हित के इच्छुक हो तो प्रमादचर्या नामा अनर्थ-दंड का त्याग करो ।

सप्तव्यसन

जूआ--अनर्थ दंडों मे महा अनर्थकारी जूआ खेलना है । जूआ सब व्यसनों में प्रधान है, महा आपदा का कारण है--समस्त अनीतियों में महा अनीति है--जुवारी के कषायों की तीव्रता होती है, उसके परिणाम निर्दयी हो जाते है--जुआरी के

विवेक नहीं रहता वह अपनी स्त्री तक को दाव पर लगा देता है। क्षण मे धनवान, क्षण मे रंक हो जाता है, महा आर्तध्यान से मर नरक मे जाता है। जुवारी चोरी डाका मारधाड पर उतर आता है। धर्म का श्रद्धान उसे स्वप्न मे भी नहीं होता। कितने ही भाई कहने से जुआ तो छोड़ देते हैं, परन्तु वह शतरज, गंजफा ताश आदि पैसे लगा कर खेलने लग जाते हैं--अब तो सट्टे फाटके का व्यापार ही चल पड़ा है, यह सब जुए मे ही गर्भित है मांस का निषेध पहिले ही किया गया है--मांस खाने से अनेक रोग शरीर मे हो जाते है, मांस अप्राकृतिक आहार है, सर्वथा अभक्ष्य है, त्रस जीवो की घोर हिंसा से इसकी उत्पत्ति होती है, उच्च, कुलीन धर्मात्मा पुरुषों द्वारा मांस सर्वथा त्याज्य है। अभक्ष्य पदार्थों का सेवन भी त्यागने योग्य है।

मदिरा पान—तीसरा व्यसन है, हिंसा की खान है। मदिरा पान करनेवाले के हृदय से विवेक सर्वथा जाता रहता है। भांग गाजा, तम्बाकू, कोकीन, अफ़ीम आदि नशीली वस्तुओं का सेवन करना सब मदिरा पान के समान ही है। इनके सेवन करने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, ज्ञान नष्ट हो जाता है, कुलीन पुरुषों को ऐसे मादक पदार्थों का सेवन भूल कर भी नहीं करना चाहिये।

शिकार--मौज शौक के लिये अपनी जिह्वाइन्द्रियकी लम्पटता की पूर्ति के लिये शिकार किया जाता है—शिकार महाघोर हिंसा के कारण तीव्र बन्ध का करनेवाला है। शिकारी के परिणाम सदैव क्रूर रहते है, उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, उसके दिल मे अनेक पापरूप वासनाये उठने लगती हैं। कितने ही भाई दीन

हीन निरपराध पशुओं का शिकार खेलना बड़ी भारी वीरता का काम समझते हैं-- यह सर्वथा भूल है, हिंसा मे वीरता कहाँ ?

भोले भाले ग़रीब जीवों को छल कपट से ठगना, उनका धन द्रव्य ज़बरदस्ती छीन लेना, लूट लेना, उनको घर से बेघर बना देना, उनकी आजीविका नष्ट भ्रष्ट कर देना, दूसरों का नाम भंग करना, उनको स्थान भ्रष्ट कर देना यह सब अन्याय रूप क्रियाये शिकार से भी बढ़कर निंद्य है। श्रेष्ठ पुरुषों को इनका त्याग करना ही सर्वथा उचित है।

वेश्या सेवन--वेश्या विष की बेल है, आपत्ति की भूमि है। धन, धर्म, शरीर, यश सब नष्ट करने वाली है। वेश्या की संगति से यह जीव चोरी, जुवा, मद्यपानादिक समस्त व्यसनों का सेवन करने लग जाता है, कुल मर्यादा सब नष्ट हो जाती है। वेश्या-सेवन जैसे महा कुव्यसन का दूर से ही त्याग कर देना उचित है।

चोरी--चोरी के दोष तो प्रत्यक्ष ही है। चोर का धर्म ध्यान सब जाता रहता है। हिताहित योग्यायोग्य का विचार चोर के नहीं रहता--चोर के दोनों लोक भ्रष्ट हो जाते है--ऐसा जान कभी चोरी नहीं करना चाहिये। अन्याय के धन की इच्छा नहीं करनी चाहिये।

परस्त्री वाञ्छा--परस्त्री की वाञ्छा का व्यसन सब अनर्थों मे प्रधान है। परस्त्री लपटी को घोर पाप कर्म का बंध होता है। इस लोक परलोक मे घोर आपदा, अपकीर्त्ति, अपयश, मरण, रोग, अपवाद, धन हानि, राजदंड, जगत् की शत्रुता, दुर्गति गमन, मारन ताड़न बध बन्धन आदि के अनेक अकथनीय दुःख भोगने

पड़ते हैं वह सप्त व्यसन दूर से ही त्यागने योग्य हैं। इनका सेवन दु:ख रूप है, इनका त्याग सुख रूप है। जो सप्त व्यसन का त्याग कर देता है वह अपने समस्त दुख, अकीर्त्ति, कुगति गमन आदि समस्त आपदाओं का निराकरण करता है।

दोहा—जुआ खेलन मास मद, वेश्या व्यसन शिकार।
चोरी पर रमनी रमन, सातो व्यसन विचार॥

अनर्थदंड व्रतके पंच अतिचार।

कन्दर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पञ्च।
असमीक्ष्य चाधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदण्ड-
कृद्विरतेः॥८१॥

१. कंदर्प नामा अतिचार—चारित्र मोहनी कर्म के उदय से राग भाव की अधिकता के निमित्त से हास्य रूप भंड बचन बोलना—हँसी मज़ाक़ के भंड बचन कहना।

२. कौत्कुच्य—तीव्ररागके उदय से हास्य रूप बचनों सहित शरीर द्वारा खोटी चेष्टाओं तथा निन्ध क्रियाओं का करना।

३. मौखर्य—बिना प्रयोजन धीठता के साथ व्यर्थ प्रलाप करना, बकवास बकना।

४. अतिप्रसाधन—बिना प्रयोजन आवश्यकता से अधिक भोगोपभोग की सामग्री का संग्रह करना।

५. असमीक्ष्य अधिकरणं—बिना प्रयोजन अधिकता से

मन वचन काय का प्रवर्तावना असमीक्ष्याधिकरण कहलाता है।

(अ) राग द्वेष वर्द्धक परिणामोंको विकृत करदेने वाले काव्य, श्लोक, कवित, छन्द, गीत आदि का मन द्वारा चिन्तवन करना मन असमीक्ष्याधिकरण है।

(आ) बिना प्रयोजन मन वचन को विकृत करने वाली खोटी अश्लील कथाओं, क़िस्से कहानियों का कहना बचन असमीक्ष्याधिकरण है।

(इ) बिना प्रयोजन चलना फिरना, उठना, दौडना, भागना, वस्तुओं को पटकना फेंकना तथा पत्र फल पुष्पादिक का छेदन, भेदन बिदारण क्षेपण आदि करना। अग्नि विष क्षारादिक का देना सब काय असमीक्ष्याधिकरण है। इस प्रकार अनर्थदंड त्याग के यह पाँचों अतिचार त्यागने योग्य है।

भोगोपभोग परिमाणव्रत

अक्षार्थानां परिसङ्ख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम्
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये ॥८२॥

अर्थ—परिग्रह परिमाण किये हुवे में से भी रागभाव की आशक्तता को घटाने के निमित्त, प्रयोजन भूत पंच इन्द्रिय विषयों का परिमाण करना भोगोपभोग परिमाण नामा गुणव्रत है।

भावार्थ—संसारी जीवों के पंच इन्द्रिय विषयों में राग अधिक होता है, उस राग भाव के कारण ही वे व्रत, संयम, दया

क्षमादिक समस्त गुणों से परान्मुख हो रहे हैं। संसार भ्रमणसे भयभीत एक अणुव्रती श्रावक जिसने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा अपरिमाण परिग्रह द्वारा जनित अन्याय रूप विषय भोगोंमें प्रीतिभाव का त्याग कर दिया है और व्रती होगया है; अब न्याय के विषयों को भी तीव्र राग भाव का कारण जानकर उसके चित्त में उन विषयों के प्रति और भी अधिक अरुचि हो गई है, राग भाव की आशक्तता को घटानेके हेतु अपने प्रयोजनवान इन्द्रिय विषयों में और अधिक परिमाण करता है। इस प्रकार परिमाण करने का नाम भोगोपभोग परिमाण नामा गुणव्रत है। यह व्रत इन्द्रियों के विषय में स्वच्छन्द निर्मल प्रवृत्ति को रोकने वाला तथा महा संवर का कारण है।

भोग और उपभोग का लक्षण

भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः। उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पञ्चेन्द्रियो विषयः ॥८३॥

अर्थ—जो पदार्थ एक बार भोगे जाने पर त्यागने योग्य हो जाते हैं वे भोग हैं; और जो एक बार भोगे जाने के बाद फिर भी बार बार भोगने में आवें वे उपभोग हैं। भोजन फूल गंध लेप आदि भोग हैं और वस्त्र आभूषण, महल सवारी, सिंहासन आदि जो बार बार भोगने में आते हैं उपभोग हैं।

त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥८४

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् की शरण ग्रहण करने वाले सम्यक् दृष्टि को त्रस जीवों की हिंसा से बचने के लिये मधु और मांस का और हित अहित के ज्ञान का अभाव करने वाले प्रमाद को दूर करने के लिये मदिरा का त्याग करना योग्य है। जो मांस, मधु और मदिरा का त्याग नहीं करते, समझिये कि वह जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा से परान्मुख हैं।

अन्यत्याज्य पदार्थ

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि ।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥८५
यदनिष्टं तद् व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् ।
अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति८६

अर्थ—जिन फलों के सेवन करने से अपने प्रयोजन की सिद्धि तो थोडी होती हो और जिनके भक्षण करने से घात अनन्त जीवों का होता होवे, ऐसे बिना पके अथवा सचित अदरक, मूलकन्द आदि, नवनीत (मक्खन) नींब के फूल, केतकी, केवड़ा आदि के फूल इत्यादि अनन्तकाय कहलाने वाले समस्त ज़मीकन्द, फूल आदि त्यागने योग्य हैं।

जिन पदार्थों के भक्षण करने से अपनी हानि होती हो ऐसे अनिष्ट पदार्थों का तथा उन पदार्थों का भी, जो सभ्य पुरुषों द्वारा सेवन किये जाने योग्य न हों, त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि अपने अभिप्राय पूर्वक योग्य विषय का भी त्यागव्रत होता है।

जिन पदार्थों के खाने से अनन्तानन्त बादर निगोद जीवों का घात होवे जैसे कन्दमूल आदिक, तथा अनेक त्रस जीवों के निवास स्थान पुष्पादिक का केवल जिह्वा इन्द्रिय के स्वाद मात्र के लिये भक्षण करने का त्याग एक जिनधर्मी श्रावक के होना चाहिये। जो वस्तु शुद्ध तो हैं परन्तु उनका सेवन करने से उदरशूल वायु, पित्त, कफ आदि जनित अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं और स्वास्थ का नाश हो जाता है त्यागकर देना चाहिये तथा अन्य भी दुखदायक इन्द्रिय विषयों का सेवन दूर से ही छोड़ देना चाहिये। जिह्वा इन्द्रियकी लंपटता के बिना अनिष्ट पदार्थों का सेवन होता नहीं। तीव्र लंपटता महा विकलता उपजानेका एक प्रबल कारण है, विकलता से महान पाप कर्म का बन्ध होता है, इसलिये अनिष्ट पदार्थों का त्याग श्रेष्ठ है।

जो पदार्थ सभ्य पुरुषों द्वारा सेवन करने योग्य नहीं हैं वे सब अनुपसेव्य हैं, उनका भी त्याग करना श्रेष्ठ है। गऊ मूत्र, गधी आदि का दूध, अशुद्ध भूमि में रखा गिरा पड़ा, तथा चमड़े का छुवा हुवा, तथा कुत्ते बिल्ली आदिका

झूठा किया हुवा, तथा किसी मांस भक्षी मद्यपानी का बनाया हुवा, स्पर्शन किया हुवा भोजन लोक निंद्य और अनुपसेव्य है।

बीभा अन्न, मर्यादा के बाहर के पदार्थ जैसे आटा दाल, घी, पकवान वगैरह तथा रसचलित पदार्थ सब ही त्यागने योग्य हैं।

सारांश यह है कि अभक्ष्य का त्याग होना चाहिये।

अभक्ष्य

१—जिन पदार्थों के खाने से त्रस जीवों का घात होता है जैसे बड़ पीपल आदि पंच उदम्बर फल, भिस (कमलङ्ग) बीधा अन्न, गले सड़े फल जिनमे त्रस जीव पैदा हो जावें तथा मांस मधु द्विदल और चलित रस। चलित रस वह पदार्थ जिनका स्वाद बिगड़ गया हो, जो मर्यादा से रहित होगये हों जैसे बदबूदार घी, सुरसली वाला आटा तथा बहुत दिनों की बनी हुई मिठाई, मुरब्बा, आचार, बासी रोटी आदि।

२—जिन पदार्थों के खाने से अनन्त स्थावर जीवों का घात होता हो जैसे आलू, अरवी, मूली, गाजर, अदरक, प्याज, शकरकन्दी, कचालू, तुच्छफल (जिसमे बीज न पड़े हों व जो बहुत छोटे हों और बड़े हो सकते हों)।

(३) जो पदार्थ प्रमाद तथा काम विकार के बढ़ाने वाले हों जैसे शराब, कोकीन, भङ्ग, चरस, हुक्का, माजून, तम्बाकू, बीड़ी, चुरट आदि मादक पदार्थ।

(४) अनिष्ट पदार्थ—अर्थात् ऐसे पदार्थ जो खाने योग्य तो हों

परन्तु शरीर को हानि पहुँचावें जैसे खांसी दमे वाले रोगी को मिठाई खाना, बुखार वाले को घी खिलाना. अध पका कच्चा देर से पचने वाला, अपनी प्रकृति विरुद्ध भोजन करना।

(५) अनुपसेव्य—वे पदार्थ जिनको अपने देश समाज तथा धर्म वाले लोग बुरा समझे जैसे सख, हाथी दांत, मृगमद, गोलोचन, ऊँटनी का दूध, गऊ मूत्र आदि।

इनके अतिरिक्त मक्खन, चमड़े के कुप्पे तराजू आदि में रखे हुवे तथा छूवे हुए, घी हींग मरका आदि पदार्थ अजानफल, बिना देखे शोधे अन्य खाने योग्य पदार्थ भी अभक्ष्य हैं। रात्रि मे बनाया भोजन, अनछना जल मे बना हुआ भोजन, दूध तथा अन्य खाद्य पदार्थ, बाजार के बने खाद्य पदार्थ, अत्तार आदि के खेचे हुवे अर्क तथा बनाई हुई माजून, आसव तथा चटनी, शर्बत आदि सब अभक्ष्य हैं। साधारण वनस्पति तथा अन्य पदार्थ जो अनन्त काय होवे सब अभक्ष्य हैं। जिन खाद्य पदार्थों के ऊपर सफेद सफेद फूई आजावे वे सब अभक्ष्य है।

हम सब जानते हैं कि शरीर रक्षा के निमित्त भोजन की आवश्यकता है, इससे हमारी जीवन शक्ति बढती है। यदि भोजन अच्छा न हो तो मनुष्यका स्वास्थ्य बिगड जाता है रोगी रहने लग जाता है। इसलिये यह जरूरी हो जाता है कि भोजन बनानेका कार्य नौकरोंके हाथमे न रह कर अधिकतर घरकी समझदार स्त्रियों ही के हाथों में रहे। देखने मे आता है कि आजकल की बहू बेटियां विशेषत: धनाढ्य घरानों की, खाने पकानेके काम को बहुत कठिन और टेढ़ा समझने लगी हैं और चौके चूल्हे के काम

मे दूर से ही कतराने लगती हैं। और इस कार्य के करने मे अपनी मान हानि समझती है। रसोइयोंसे ही कच्चा पक्का शुद्धाशुद्ध भोजन बनवाकर उदर भर लेना पसन्द करती है। भला उन्हे यह तो जरा सोच लेना चाहिये कि नौकर चाकर कभी भोजन के शुद्ध बनाने बिगाड़ने की परवाह नहीं किया करते, उनकी ओर से तो भोजन चाहे अच्छा हो चाहे बुरा, चाहे प्रकृति विरुद्ध भी क्यो न हो, उन्हे तो बेगार टालनी है वे तो केवल अपने वेतन के इच्छुक है। इसके अतिरिक्त रसोइयों बेचारों को अनपढ़ होने के कारण क्रियाकांड आता नहीं भक्ष्याभक्ष्यका विवेक उनके होता नहीं। सच पूछिये तो वास्तविक धर्मात्मा पुरुषोंका दिल तो उन के हाथ का भोजन खाने को भी नहीं चाहता। इसलिये यदि प्रत्येक ग्रहस्थ स्त्री अपने हाथ मे शुद्ध भोजन बनावे तो सारे कुटुम्ब को भोजन भी शुद्ध मिल जावे, खर्च भी कम होवे और स्वास्थ्य बिगड़ने का भय भी न रहे। शुद्ध रसोई बनाने के लिये स्त्रियों को चाहिये कि दिन के समय मे शुद्ध पवित्र स्थान मे शुद्ध भावो के साथ रसोई बनावे और भोजन की शुद्ध सामग्री को ही काम मे लावे। भोजन बनाने वाली को पूर्व मे कहे हुवे भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों का ज्ञान भी अवश्य होना चाहिये।

जलः—जल को गाढ़े उजले दोहरे छन्ने मे से छान कर काम मे लाना चाहिये। छना हुआ जल ४८ मिनट के ही अंदर २ पीने योग्य होता है। इसके पश्चात् उसको फिर छानना चाहिये। यदि जलके रंग को या गंध को लवंग इलायची आदि कषायले पदार्थों का चूर्ण मिलाकर बदल दिया जावे तो वह जल छः घंटे

तक बिना छने काम मे आ सकता है। ऐसे जल को प्रासुक जल कहते है। इसे छह घंटे की मर्यादा के अन्दर ही अन्दर काम में ला सकते है। यदि पानी को छानने के पश्चात गर्म कर लिया जावे और ऐसा गर्म कर लिया जावे कि उस मे उबाल न आवे तो उस की मर्यादा १२ घंटे की है। इस मर्यादा के भीतर वह बिना छना हुआ भी काम मे लाया जा सकता है। यदि जलको को खूब अच्छी तरह से उबाल लिया जावे तो वह २४ घंटे तक काम मे लाया जा सकता है। जल छानने के पश्चात् उसकी जीवानी को एक चौड़े बर्तन मे एकत्रित करते रहना चाहिये और फिर उसे यत्नाचार पूर्वक उस जल स्थान मे जहाँ से कि जल लाया गया था पहुँचा देना चाहिये।

भोजन सामग्री:—बाजार या मिल का पिसा हुआ आटा कभी नही बर्तना चाहिये, वह सर्वथा अपवित्र होता है। घर पर ही शुद्ध बिने हुवे गेहूँ लेकर उजाले मे हाथ की चक्की मे पीसने चाहियें। पीसते समय चक्की को अच्छे मुलायम कपड़े से पोंछ लेना चाहिये और खूब देख भाल लेना चाहिये कि कोई जीव जन्तु तो नहीं है।

भारतवष के जल वायु के अनुसार नीचे लिखे प्रमाण समय तक पदार्थों का सेवन करना लाभदायक है, उस समय तक उस पदार्थ मे कीटाणु उत्पन्न नहीं होते, इसलिये वह बिगड़ता नहीं है। और अपने वास्तविक स्वाद मे ही रहता है।

१—खिचड़ी, दाल कढ़ी आदि कच्ची रसोई की मर्यादा आरभ से छह घंटे है।

२—रोटी, मुलायम पूरी, तरकारी की दिन भर, रात बासी नहीं।

३—सुहाल, लड्डू, बर्फी, पेड़ा आदि मिठाई और खस्ता कचौरी, आचार, मुरब्बा आरंभ से २४ घंटे।

४—बिना पानी के, घी और अन्न से बने पदार्थ शक्कर रहित या सहित, पिसा हुआ आटा या चून मसाला प्रारंभ से ७ दिन तक जाड़े मे, पाँच दिन तक गर्मी मे, और तीन दिन तक वर्षा मे।

नोट—श्रावण से कार्तिक वर्षा, मार्गशीर्ष से फाल्गुण तक जाड़ा और चैत्र से आषाढ तक गर्मी जाननी चाहिये।

५—शक्कर का बूरा साफ किया हुआ—प्रारंभ से एक मास जाड़ा, १५ दिन गर्मी और ७ दिन वर्षा।

६—घी और तेल वहाँ तक जहाँ तक उनका स्वाद न बिगड़े।

७—दूध को गाय भैंस के थन धोकर दूध निकालने फिर छान कर ४८ मिनट के भीतर २ या तो पी लेना चाहिये, या इस समय के भीतर भीतर उसको औटाने के लिये अग्नि पर रख देना चाहिये। इस प्रकार औटाया हुआ दूध प्रारंभ से २४ घंटे तक काम मे लिया जा सकता है। ऐसे ही दूध को जमा कर दही व मक्खन बनाना चाहिये। दही मे से निकले हुए मक्खन को ४८ मिनिट के अंदर ही अग्नि पर तपा कर घी बना लेना चाहिये, उबाले हुए दूध की दही की मर्यादा २४ घंटे की है। गर्म पानी डालकर तय्यार की हुई छाछ की मर्यादा १२ घंटे है और कच्चे पानी से बनाई हुई छाछ की मर्यादा ४८ मिनट की है।

८—खिचा हुवा अर्क औंटा लेने पर प्रारंभ से ८ पहर तक चल सकता है।

रात्रि भोजन त्याग ।

रात्रि के समय भोजन नहीं करना चाहिये। रात्रि भोजन सब प्रकार से हानिप्रद और धर्म नाशक है। रात्रि में भोजन बनाना भी नहीं चाहिये और न ही रात्रि के समय बने भोजन को भक्षण करना चाहिये। रात्रि भोजन सर्वथा धर्म विरुद्ध है रात्रि भोजन करने से माँस भक्षण का दोष लगता है और अगणित जीवों की हिंसा होती है जिससे महान पाप का वंध होता है। रात्रि भोजन का त्याग श्रावकों का मुख्य चिन्ह है। जो दिनके समय खान पान करते हैं उनका भोजन खूब अच्छी तरह हज़म हो जाता है। रात्रि भोजनका त्याग करने वाले को चाहिये कि खान पान का त्याग दो घड़ी दिन शेष रहने से पहले ही कर देवे और सूर्योदय होनके दो घड़ी बाद खान पान करे। ऐसा करना उत्तम व्रत है। जो इतना नहीं कर सकते वह मध्यम रूप से पालन कर सकते हैं। रात्रि के समय कोई रोग या कोई आपत्ति आ जावे तब औषधि और जल को ग्रहण कर लेवे बाकी सब प्रकार के खान पान का त्याग कर देवें।

पाक्षिक श्रावकों को चाहिये कि वह इस व्रत का मध्यमरूप से पालन करें। यदि उनमें मध्यम रूप से भी पालन करने की शक्ति न हो तो जघन्य रूप से पालन करें। जघन्य रूप से पालन करने वाले शोधित सूखे फल जैसे काजू बादाम आदि, दूध पानी और औषधि आपत्ति काल के बिना भी ग्रहण कर सकते हैं, परन्तु

नैष्ठिक श्रावक को रात्रि भोजन का हर प्रकार से सर्वथा त्याग होता है।

यदि दिन के समय कभी ऐसी अँधियारी आ जावे कि कुछ कुछ दिखाई न पड़े तो उस समय भी खाने पीने का त्याग ही करना उचित है। चौके चूल्हे की कोई क्रिया रात्रि को नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उसमें अनेक जीवों की हिंसा होती है, जो पाप का मूल कारण है।

भोगोपभोग परिमाण व्रत करने वाले को अनुपसेव्य जान विकार रूप वस्त्राभूषण भी नहीं पहनने चाहिये। जो वस्त्राभूषण उत्तम कुल के योग्य नहीं, नीच कुलादिक मे पहने जाते हों, म्लेच्छ, वेश्या, भाँड आदि खोटी प्रवृत्ति वालों की सोसायटी मे पहने जाते हों वे सब त्याज्य हैं। उनके पहननेसे परिणाम बिगड़ जाते हैं, विकार भाव उत्पन्न हो जाता हैं। इसलिये अपने पदस्थ के योग्य तथा अवस्था के योग्य और लोकमत जिसके विरुद्ध न हो आभरण वस्त्र भेष धारण करने योग्य हैं।

यम नियम का स्वरूप

नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारे।
नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ८७

अर्थ—भोगोपभोग परिमाण व्रत के यम और नियम ऐसे दो भेद कहे हैं। काल की मर्यादा को लिये हुए त्याग करना नियम कहलाता है। जैसे किसी पदार्थ का एक मुहूर्त तथा दो मुहूर्त, एक दिन या दो दिन, एक

महीना या दो महीना, तथा छह महीने या वर्ष दो वर्ष के लिये काल की मर्यादा पूर्वक त्याग करना नियम होता है।

किसी पदार्थ का जीवन पर्यन्त त्याग करना यम कहलाता है।

भावार्थ—जो पदार्थ शुद्ध हों, अपने लिये उपयोगी हों उनका त्याग तो नियमरूप से काल की मर्यादा को लिये हुये होता है। जैसे किसी ने नियम किया कि मैं दशलक्षण पर्व के दिनों में रात्रि को दूध नहीं पीऊँगा दशलक्षण पर्व समाप्त हो जाने पर वह रात्रि को दूध ग्रहण कर सकता है।

जो पदार्थ अपने प्रयोजन में आनेवाले न हों और परिणामों के बिगाडने वाले हों तथा सदोष हों उनका जीवन पर्यन्त त्याग कर दिया जाता है।

भोजनवाहनशयनस्नानपवित्रांगरागकुसुमेषु।
ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसंगीतगीतेषु ॥८८॥
अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथर्त्तुरयनं वा।
इतिकालपरिच्छित्त्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ८९

भावार्थ—भोगोपभोग परिमाण व्रत में नित प्रति भी नियम करे। ऐसा विचार करे कि आज:—

(१) भोजन कितनी बार करूँगा। अथवा आज के दिन कितने

अन्न तथा पदार्थ खाऊँगा।

(२) पीने की चीजें कितनी और कितनी बार ग्रहण करूँगा।

(३) छहों रसों मे से कौनसा रस छोड़ूंगा कौनसा ग्रहण करूँगा।

(४) तेल, साबुन, उबटना लगाऊँगा या नहीं लगाऊँगा यदि लगाऊँगा तो कै बार।

(५) फल कै बार सूघूंगा और कौन कौन से।

(६) पान,ताम्बूल, इलायची, सुपारी भक्षण करूँगा या नहीं, यदि करूँगा तो कै बार।

(७) संसारिक संगीत गान आदिक तथा बाजा आदि बजाना कितने और कै बार करूँगा।

(८) सांसारिक नृत्य देखूंगा या नहीं ? देखूंगा तो कौन से और कै बार।

(९) काम सेवन का नियम करना।

(१०) स्नान कै बार करूँगा।

(११) वस्त्रों का नियम करना कि कितने जोड़े पहनूंगा।

(१२) जेवर पहनूंगा या नहीं, पहनूंगा तो कितने।

(१३) सिंहासन कुर्सी चौकी आदि बैठने के आसन कितने और कौन २ से ग्रहण करूँगा।

(१४) पलंग चारपाई आदि सोने की शैय्या कितनी और कौन २ सी ग्रहण करूँगा।

(१५) मोटर रेल घोड़ा हाथी जहाज, विमान आदि सवारियों में से कौन २ सी सवारी आज कितनी बार ग्रहण करूँगा।

(१६) आज कौन २ सी सब्जी भक्षण करूँगा और कौन २ सी

वस्तु कितनी ग्रहण करूँगा।

(१७) कुल खाने पीने की वस्तुओं की संख्या का नियम करना।

इत्यादिक अपने योग्य भोग उपभोग के पदार्थों में भी नित्य नियम करें।

एक घड़ी मुहूर्त्त पहर दिन तथा रात्रि, पक्ष तथा एक महीना तथा दो महीने ऋतु और अयन अर्थात् छः महीने इत्यादिक काल की मर्यादा पूर्वक त्याग करना नियम होता है।

विषयविषतोऽनुप्रेक्षानुस्मृतिरतलौल्यमतितृषानुभवः। भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥९०॥

अर्थ—भोगोपभोग नामव्रत के पाँच अतिचार त्यागने योग्य हैं।

१—विषय संताप बढ़ाते हैं, विषयों के निमित्त से मरण हो जाता है। पांचों इन्द्रियों के विषय विष के तुल्य होते हैं इनमें राग भाव का कम नहीं होना अनुपेक्षा नाम का अतिचार है।

२—जो विषय भोग पूर्व काल में भोगे थे, उनको बार बार याद करना अनुस्मृति नाम का अतिचार है।

३—जिस समय इन्द्रियों के विषयों को भोग रहा हो उस समय उनको अधिक आसक्त होकर अति गृद्धिता के साथ भोगना अति लौल्य नाम का अतिचार है।

४—आगामी काल में विषय भोगों के भोगने की अति तृष्णा और लम्पटता होना अति तृष्णा नाम का अतिचार है।

५—विषयो को न भोगते हुवे भी ऐसा विचारना कि भोग ही रहा हूँ, ऐसे परिणाम होना अनुभाव नामा अतिचार है ।

इन उपर्युक्त पांच अतिचारो को त्याग करके भोगोपभोग परिमाण व्रत को शुद्ध करना ही योग्य है ।

भोगोपभोग परिमाण करने वाले को अपने परिणामों की दृढ़ता, अपनी सामर्थ्य, देश की रीति तथा काल का अवसर देख कर ही परिमाण करना चाहिये । अपनी स्वाधीनता पराधीनता का विचार करना चाहिये, अपने शरीर की शक्ति को खूब तोल लेना चाहिये । ऐसा न हो कि वह तो परिमाण कर लेवे, फिर उसे कष्ट हो जिस के कारण परिणामों में कलुषता उपजे और आर्त्त ध्यान बना रहे । सहायक साधनों पर भी विचार करना चाहिये, भली भांति देख लेना चाहिये कि कोई बिगाड़ने वाले कारण तो नहीं है । जैसे २ परिणामों की उज्वलता के साथ व्रत का निर्वाह होता दिखाई पड़े वैसे २ नियम रूप त्याग करना चाहिये ।

जिन विषयों के सेवन करने से किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती और जो महान हिंसा, तथा अनीति के मूल कारण है, जिनका त्याग कर देने से शरीर पर कोई क्लेश भार दुःख नहीं आता है, न कोई अपयश होता है उनका त्याग तो जीवन पर्यन्त ही कर देना श्रेष्ठ है । यदि त्याग कर देने पश्चात् किसी समय मे प्रबल कर्म के उदय से कहीं कुदेश मे पराधीनता मे पड़ जावे, प्रबल रोग आजावे, शरीर के शिथिल हो जाने के कारण सामर्थ्य न रहे, अंधा हो जावे, बहरा हो जावे, या कोई लम्बा रोग हो जावे, जेलखाने में दुष्ट म्लेच्छ अधर्मियों के फंदे मे फँस जावे,

और वहां पराधीन हुआ पड़ा रहे, दुष्ट जन भोजन जलादि को बिगाड़ देवें, अपने साथ शामिल करके उसके खान पान की शुद्धि को बिगाड़ देवें तो ऐसा उपद्रव आजाने पर अन्तरङ्ग मे तो अपने व्रत सयम को छोड़े नही, बाहर से ऐसे समय में श्री पंचनमोकार मत्र का ध्यान करने मात्र से ही शुद्धि है। क्योंकि बाहर से पवित्र होवो या अपवित्र मल मूत्र रुधिर आदिक से भरे हुवे हो अथवा बाहर स सर्वथा ग्लानि योग्य घिनावनी दशा को प्राप्त हो रहा हो। ऐसा मनुष्य यदि परमात्मा का स्मरण करता है तो वह बाहर भी पवित्र है और अतरंग मे भी पवित्र है। यह शरीर तो सप्त धातु मय है, मल मूत्रादि से भरा है, रोगों का निवास स्थान है। क्षण मात्र मे इस शरीर मे कोढ़ झरने लग जाता है, हजारों फुन्सी फोड़े शरीर से फूट २ कर निकल आते है, जिनसे लोहू और राध बहने लगता है, मलमूत्र अबुद्धि पूवक निकलने लग जाता है ऐसी दशा मे व्यवहार शुद्धता कैसे बने? निर्धन एकाकी का सहायक कौन होवे? ऐसे समय में धर्मात्मा पुरुष अशुभ कर्म से ग्लानि छोड़ धीरता धारण कर अपने परिणामों को आर्त तथा संक्लेशित नहीं होने देता। इस कष्ट को अशुभ कर्म की निर्जरा मानते हुवे अंतरंग मे वीतरागता धारण करता है, संसार देह भोगो का स्वरूप चिन्तवन करता है, बारह भावनाओं को भाता है। अपने आत्म स्वरूप को कर्मोदय से सर्वथा भिन्न, ज्ञाता दृष्टा शुद्ध स्वभाव वाला चिन्तवन करता है और राग, द्वेष, हर्ष, विषाद, ग्लानि, भय, लोभ ममता रूप आत्मा के मैल को वीतरागता रूप शुद्ध जल द्वारा धोकर अपने को शुद्ध मानता है, ऐसे मनुष्य के

उस समय मे शुद्धता होती है।

इस प्रकार भोगोपभोग परिमाण व्रत के स्वरूप को जान कर इस का पालन करना श्रेयकर है। इस व्रत के पालन करने से पापास्रव रुक जाता है, इन्द्रियां वशीभूत होजाती हैं, रागभाव अति मंद हो जाता है, व्यवहार शुद्ध हो जाता है। मन वशीभूत हो जाता है, व्यवहार और परमार्थ दोनों उज्वल हो जाते है। इस लिये भोगोपभोग परिमाण व्रत ही आत्मा का हित है। विरुद्ध भोगों का त्याग तो अवश्य ही होना चाहिये, उपयोगी शुद्ध पदार्थों के भोग में भी अपनी शक्ति प्रमाण देश काल को विचार रात दिन के काल की मर्यादा करना और फिर उस में भी घड़ी दो घड़ी चार घड़ी का मर्यादा पूर्वक त्याग करना कर्मों की निर्जरा का कारण है।

इति श्रीस्वामी समंतभद्राचार्य विरचित रत्नकरंड श्रावकाचार के पंच अणुव्रत तथा तीन गुणव्रत के स्वरूप का वर्णन वाला तृतीय अधिकार समाप्त भया।

शिक्षाव्रत

देशावकाशिकं वा सामयिकं प्रोषधोपवासो वा।
वैयावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥६१॥

अर्थ—देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास, वैय्यावृत्य; यह चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं। इनको शिक्षा व्रत इसलिये कहते हैं कि यह श्रावकों को मुनिपने की शिक्षा देते हैं।

देशावकाशिकव्रत

देशावकाशिकं स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य।
प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य ॥६२॥

अर्थ—अणुव्रतोंके धारी पुरुषों का मर्यादा किये हुवे विशाल देश अर्थात् दिग्व्रतको, दिवस आदि काल की मर्यादा करके, दिन प्रति दिन घटाना देशावकाशिक नाम का शिक्षाव्रत है।

भावार्थ—पहले दिग्व्रतमें दशों दिशाओं मे आने जाने, माल मंगाने भेजने, किसी को बुलाने इत्यादि की जो मर्यादा, जीवन भर के लिये की थी, वह बहुत विस्तीर्ण थी, अब उस मे से रोजाना क्षेत्र को घटा कर काल की मर्यादा सहित व्रत करना देशावकाशिक व्रत होता है। जैसे किसी ने पूर्व दिशा मे आने जाने का दो सौ मील का परिमाण जीवन पर्यन्त किया, यह तो हुआ दिग्व्रत; फिर इस मे से रोजाना मर्यादा पूर्वक क्षेत्र को कम

करे कि आज मेरे केवल दस मील जाने का ही परिमाण है, या और घटाकर यह व्रत करना कि आज मैं इस नगर से बाहर कहीं नहीं जाऊँगा, या उसमें से और भी घटा कर यह व्रत करना कि आज मैं अपनी गली से बाहर नहीं जाऊँगा या अपने मकान से बाहर न जाऊँगा; यह देशावकाशिक व्रत है।

क्षेत्र की मर्यादा

गृहहारिग्रामाणां क्षेत्रनदीदावयोजनानां च ।
देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः ९३

अर्थ—तपोवृद्ध अर्थात् गणधर देव देशावकाशिक के क्षेत्र की सीमा (मर्यादा) ग्रह, कटक, ग्राम, क्षेत्र, नदी, वन योजन कहते हैं, इन का उल्लघन करने का हमारे इतने काल तक के लिये त्याग है।

देशावकाशिक के काल की मर्यादा

संवत्सरमृतुरयनं मासचतुर्मासपक्षमृक्षं च ।
देशावकाशिकस्य प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः ॥९४

अर्थ—प्रवीण पुरुष अर्थात् गणधर देव एक वर्ष, छह महीना, दो महीने, चार महीने, एक पक्ष, एक नक्षत्र इस प्रकार देशावकाशिक व्रत के काल की मर्यादा कहते हैं।

देशावकाशिक का प्रभाव

सीमान्तानां परतः स्थूलेतरपञ्चपापसंत्यागात् ।

देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते ॥९५

अर्थ—परिमाण किये हुवे क्षेत्र की सीमा से बाहर के समस्त क्षेत्र सम्बन्धी स्थूल और सूक्ष्म पंच पापों का त्याग हो जाने से देशावकाशिक व्रत के द्वारा भी महाव्रतों की सिद्धि हो जाती है। अर्थात् देशव्रत में जितने काल के लिये जितने थोड़े क्षेत्र का परिमाण किया जाता है, उस काल के लिये शेष बाहर के क्षेत्र की अपेक्षा तो व्रती सकल संयमी हो जाता है।

देशावकाशिक व्रत के पंच अतिचार

प्रेषणशब्दानयनं रूपाभिव्यक्तिपुद्गलक्षेपौ ।
देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पञ्च ॥९६

देशावकाशिक व्रत के पच अतिचार यह है:—

१. प्रेषण.—आप मर्यादित क्षेत्र के अन्दर रहते हुवे, उससे बाहर के क्षेत्र के काम के लिये अपने नौकर, पुत्रादिक को आज्ञा करना और कहना कि जाओ तुम अमुक कार्य करो।

२. शब्द.—आप मर्यादित क्षेत्र के भीतर रहते हुवे, बाहर क्षेत्र मे काम करने वालों से वार्तालाप करना, खखारना आदि शब्दों द्वारा अपनी समस्या उनको जिता देना समझा देना।

३. आनयनः—मर्यादा से बाहर क्षेत्र से किसी को बुलाना, या कहकर वस्त्रादिक वाञ्छित वस्तु को मंगाना।

४. रूपाभिव्यक्तिः—मर्यादित क्षेत्र के अन्दर रहते हुवे उस के

बाहर के क्षेत्र मे तिष्ठने वालों को अपना रूप दिखा कर या इशारों में अपना काम जिता देना, समझा देना।

५. पुद्गल क्षेप—मर्यादित क्षेत्र से बाहर क्षेत्र मे तिष्ठने वालों को, उस बाहर के क्षेत्र मे अपना कोई वस्त्र, तथा कंकर पत्थर, लकड़ी आदि फेंक कर इशारा करना।

यह पांचों ही अतिचार त्यागने योग्य हैं। देशव्रत दिग्व्रत के भीतर ही किया जाता है। इस प्रकार देशावकाशिक व्रत के धारण करने से विशेष हिंसा का त्याग होता है।

सामायिक शिक्षाव्रत

आसमयमुक्तिमुक्तं पञ्चाघानामशेष भावेन।
सर्वत्र च सामयिका: सामायिकं नाम शंसन्ति ९७

अर्थ—परम साम्य भाव को प्राप्त श्री गणधरदेव मर्यादित तथा मर्यादा बाह्य क्षेत्र में भी समस्त मन वचन काय, कृतकारित अनुमोदना द्वारा नियमित काल पर्यन्त पंच पापों के त्याग को "सामायिक" नाम कहते हैं।

भावार्थ—अर्थात् समस्त पंच पापों का मर्यादित्व काल पर्यन्त समस्त प्रकार से त्याग करना सामायिक कहलाता है।

सामायिक में कैसे तिष्ठे

मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्धं पर्य्यङ्कबन्धनं चापि।
स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञा: ९८

अर्थ—आगम के ज्ञाता केश बान्धना, मुष्टि बांधना,

वस्त्र बांधना और पद्मासन जमाना, जैसे भी हो सके खड़े होकर कायोत्सर्ग रूप से या बैठे हुवे पर्यंकासन से राग द्वेष रहित शुद्धात्मा को जानते हैं।

अर्थात्—सामायिक करने वाले मर्यादित काल पर्यन्त समस्त पापों का त्याग करके खड़ा होकर या पर्यंकासन बैठकर (पर्यंकासन में बैठे हुवे दाहिने हाथ की हथेली को वाम हाथ की हथेली पर जमा कर) अपने मस्तक के चोटी इत्यादि के केशों को बांध कर तथा वस्त्रादि बिखरे हुवे हों तो उन को समेट कर गांठ देकर बांध कर, खड़ा होकर या बैठ कर सामायिक करे—केशों को बांधना या वस्त्रों को गांठ देकर बांधना इस वास्ते कहा कि बाल या वस्त्र हिलते हों या हवा आदि से उड़ते हों तो परिणामों में विक्षेप करते है। उस विक्षेप मे बचने के लिये ऐसा किया जाता है।

सामायिक योग्य स्थान

एकांते सामयिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वस्तुषु च।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ९९

अर्थ—जिस स्थान में चित्त को विक्षेप करने वाले कारणों का अभाव हो, बहुत असंयमियों का आना जाना न होवे, अनेक लोगों द्वारा किये वाद विवाद का जहां कोलाहल न हो, स्त्री नपुंसकादि का आना जाना न हो, जहां गीत, नृत्य आदि का शोर न हो रहा हो, तिर्यंचों और पक्षियों का संचार न हो, जहां जाड़े, गर्मी, तथा वर्षा की

बाधा न हो, डांस, मच्छर, मक्खी, कीड़ी, मकोड़े, मधु मक्खी, सर्प, बिच्छू, कनखजूरे आदि जीव पीड़ा न पहुँचा सकते हों, ऐसे एकांत विक्षेप रहित स्थान में चाहे वह बन हो, या जीर्ण बाग हो तथा सूना ग्रह हो, चैत्यालय हो या धर्मात्मा जनों का प्रोषधोपवास करने का स्थान हो ऐसे विक्षेप रहित एकांत स्थान में प्रसन्न चित्त होकर सामायिक करे ।

सामायिक कैसे और कब करे

व्यापारवैमनस्याद्विनिवृत्त्यामन्तरात्मविनिवृत्त्या ।
सामयिकं बध्नीयादुपवासे चैकभुक्ते वा ॥१००॥
सामयिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यं ।
व्रतपञ्चकपरिपूरणकारणमवधानयुक्तेन ॥१०१॥

अर्थ—काय की चेष्टारूप व्यापार से विरक्त हुवा बाह्य आरंभादिक से निवृत्त होकर तथा मन के संकल्प विकल्पोंका त्याग करके उपवास के दिन या एकाशन के दिन सामायिक रूप तिष्ठै । आलस्य रहित पुरुष के लिये नित्य प्रति एकाग्र चित्त होकर सामायिक का परिचय करना योग्य है तथा वृद्धि करने योग्य है, क्योंकि सामायिक अहिंसादि पंच अणुव्रतों की पंच महाव्रतरूप परिपूर्णता का कारण है ।

भावार्थ—सामायिक करने में उद्यमी मनुष्य शरीर की समस्त आरम्भादिक क्रियाओं का त्याग करके तथा मन के संकल्प विकल्पों को दूर करके सामायिक मे तिष्ठता हैं। कोई तो पर्व का निमित्त पाकर उपवास वाले दिन सामायिक मे तिष्ठता है, कोई एकाशन के दिन सामायिक करता है और जो पुरुष निरालसी होते है वे दिन में एक बार तथा दो बार प्रातःकाल तथा संध्या समय अर्थवा तीन बार सवेरे, दोपहर तथा सायकाल छह छह घड़ी, या चार चार घड़ी अथवा दो दो घडी का नियम कर साम्यभाव की आराधना करें। एकांत स्थान में निश्चल पर्यंकासन तथा कायोत्सर्ग नाम का निश्चल आसन मांड, अंगोपांग के समस्त हलन चलन को रोक काष्ट पाषाण की स्थिर मूर्ति के समान अचल होकर, दशों दिशाओं को तथा अपने अंगोपांग को न देखते हुवे नासा के अग्र भाग की अणि पर निज दृष्टि को जमा, किसी से वार्ता न करता, पंचेन्द्रियों के समस्त विषयों से मन को मोड कर, समस्त चेतन अचेतन पदार्थों में से रागद्वेष हर्ष विषाद, वैर स्नेहादिक के परिणामों का त्याग करके सामायिक में तिष्टता है। सामायिक में तिष्टने वाला जगत के समस्त जीवों में मैत्री भाव धारण करता है, उनके प्रति परम क्षमा को धारण करता है। विचारता है कि मै समस्त जीवों के प्रति क्षमा धारण करता हूँ, जगत में कोई भी जीव मेरा वैरी नहीं है, मेरा स्वयं उपार्जित कर्म ही मेरा शत्रु है। क्रोध मान माया लोभ कषायोंके वशीभूत हो अज्ञान भाव तथा दुर्बुद्धि से अन्य जीवों के प्रति जो मैंने वैर बुद्धि धारण की हुई है उसका त्याग कर अब

क्षमा भाव को अंगीकार करता हूँ। अन्य समस्त जीव भी मेरे अज्ञान भाव को विषय कषायाधीन जान कर मेरे ऊपर क्षमा धारण करें। जितनी देर दो घड़ी, चार घडी, छह घडी सामायिक मे तिष्टता हूँ उतनी देर तक मन बचन काय से पाचों इन्द्रियों के समस्त विषयों का तथा समस्त आरम्भ परिग्रह का त्याग करके भगवान पंच परमेष्टी का स्मरण करते हुवे तिष्ठू। ऐसे सामायिक के समय मे प्रतिज्ञा करके णमोकार मंत्र का ध्यान करे, पंच परमेष्टी के गुणों का स्मरण करते हुवे, जिनेन्द्र प्रभु के प्रतिबिम्ब का चिन्तवन करता हुवा सामायिक मे तिष्टै। अपनी आत्मा के ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को राग द्वेष-भिन्न अनुभव करता हुवा तिष्टै तथा अरहत मंगलं, सिद्ध मंगल, साहु मंगल, केवलिपणत्तो धम्मो मगलं इन चारों मंगल पदो का अरहन्त लोगोत्तमा, सिद्ध लोगोत्तमा, साहु लोगोत्तमा, केवलिपणत्तो धम्मो लोगोत्तमा; इन चार उत्तम पदों का तथा अरहंत शरणं पव्वज्जामि, सिद्ध सरणं पव्वज्जामि, साहुसरणं पव्वज्जामि, केवलिपणत्तोधम्मो सरण पव्वज्जामि, ऐसे चार सरण पदो को चिन्तवन करता हुआ तिष्टै; अनित्य अशरण आदि बारह भावनाओं का चितवन करे; दर्शन विशुद्धादि षोडश कारण भावनाओ का चिन्तवन करे। चतुर्विंशति तीर्थंकरों का स्तोत्र पढ़े, किसी एक तीर्थंकर की स्तुति कर एकाग्र चित्त हो उनके अर्थ को विचारे और उस को धारण कर सामायिक करे। प्रतिक्रमण करते हुवे समस्त दिन मे किये दोषों का दिन के अन्त में (सन्ध्या समय) चिन्तवन करे और समस्त रात्रि में लगे हुवे दोषों का सवेरे चिन्तवन करे। ऐसा विचार करे

कि यह मनुष्य जन्म और इसमे भी सर्वज्ञ वीतराग द्वारा उपदेश्या हुआ धर्म अनन्त काल मे बड़ी दुर्लभता से प्राप्त हुआ है। मेरे इस जीवन की एक घड़ी भी धर्म बिना व्यतीत न होवे। विचारे कि आज के दिवस मे तथा रात्रि मे जिनेन्द्र दर्शन में, स्वाध्याय मे सत्संगति मे, धर्म चर्चा मे, पंच परमेष्ठी के जप और ध्यान मे तथा पात्रदान आदि शुभ कार्यों मे कितना काल व्यतीत किया। गृहस्थ के आरम्भ मे, इन्द्रियों के विषयों मे, व्यवहार सम्बन्धी विकथाओं में, प्रमाद मे, निद्रा मे, काम भोग मे, भोजन पानादिक मे कितना समय व्यतीत किया। मेरे मन वचन काय की प्रवृत्ति संसार के कार्यों मे अधिक हुई या परमार्थ मे अधिक हुई। इस प्रकार समस्त दिन के कार्यों का चिन्तवन सांयकाल की सामायिक मे करे। और रात्रि मे किये हुवे कार्यों की पड़ताल सवेरे के समय करे। व्यवहार मे भी नित प्रति देखने मे आता है कि जो पांच रुपये की पूंजी से भी वणिज व्यापार करता है वह भी रोजाना अपने नफे टोटे की पडताल करता है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी पूर्व पुण्य के प्रभाव से मिले हुवे उत्तम मनुष्य जन्म, वीत राग धर्म, सत्संगति, इन्द्रिय परिपूर्णतादिक धन मे व्यवहार करता हुआ, अपनी आत्मा की हानि वृद्धि की संभाल नित प्रति किया करता है। कषायों के वशीभूत हो अपने मन वचन काय की जो दुष्ट प्रवृत्ति हो गई हो उस की बारंबार निन्दा करता है। निद्य कर्म का चितवन करते २ अपनी आत्मा मे से उसे उखाड़ फेंकने का भरसक प्रयत्न करता है। कर्म तथा कर्म फल के स्वरूप को भली भांति जान निश्चय करता है कि मोह कर्म बड़ा बलवान है,

यही संसार मे भ्रमण कराने का प्रबल कारण है, जब-तक आत्मा पर मोह कर्म का साम्राज्य छाया हुआ है मेरे परिणामों में से राग द्वेष की वासना नहीं हटती है, वैरभाव और विषयोंका राग कम नहीं होता है, यह सब मोह की ही महिमा है। इसी कारण मोह कर्म के जीतने वाले पंच परमेष्ठी का स्मरण करता हूँ। भावना करता हूँ कि जिस प्रकार मोह कर्म को जीत जिनेन्द्र भगवान ने वीतरागता प्राप्त की है, उसी प्रकार उनके गुणों के स्मरण द्वारा राग भाव, द्वेष भाव, कामादि विकार भाव, तथा क्रोध भाव, अभिमान भाव, मायाचार के भाव, तथा लोभ भाव को नाश कर मैं भी परम वीतरागता को प्राप्त होऊँ। प्रमाद के वशीभूत तथा अज्ञान भाव से जो षट् काय के जीवों की विराधना मेरे द्वारा हुई है, और उस से जो मेरे पाप कर्म का बंध हुआ है उस पाप को दूर करने के निमित्त कायोत्सर्ग करता हूँ और पंच परमेष्ठी का स्मरण करता हूँ ताकि पंच परमेष्ठी के ध्यान के प्रभाव से मेरे परिणाम छहकाय के जीवो के घात से पराङ्मुख होवे, और मेरी आत्मा मे सयम भाव की उत्पत्ति होवे। चलने मे, फिरने मे, बैठने उठने मे, भोजन पान , चक्की चूल्हा ओखली सम्बंधी आरम्भ करने मे, सवारी करने मे, आजीविका के निमित्त सेवा, कृषि, विद्या, वाणिज्य, लेखकला, शिल्प आदि के कार्यों मे यत्नाचार रहित प्रवृत्ति होने के कारण जो दो इन्द्रियादिक त्रस जीवों का घात हुआ हो, वह मिथ्या होवे—आरम्भादिक मेरे लिये भले नहीं हैं, संसार समुद्र में डुबाने वाले हैं। इन्हीं के निमित्त से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप पंच पापों

में प्रवृत्ति कर अशुभ कर्मों का बंध किया, अब पच परमेष्ठी की शरण ग्रहण करता हूँ और भावना करता हूँ कि अब आगे मेरे हिंसारूप परिणामों का अभाव होवे। अब आगे दुष्ट बचनों में मेरी प्रवृत्ति कभी न होवे। अब आगे मेरे परिणाम कदापि पराया धन बिना दिये ग्रहण करने के न होवें। अब आगे मेरा अन्य की स्त्री में कदाचित अनुराग न होवे। परिग्रह महापाप का कारण है इस से बचाने वाला भगवान् पंच परमेष्ठी बिना अन्य कोई नहीं है। इसलिये मूर्छा के नाश के हेतु परम संतोष की प्राप्ति के अर्थ पच नमस्कार के ध्यान पूर्वक कायोत्सर्ग करता हूँ और भावना करता हूँ कि मेरी आत्मा मे अब परम संतोष गुण का विकास हो। सामायिक मे तिष्ठा हुआ ग्रहस्थ कैसा होता है सो आचार्य कहते हैं:—

सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावं॥१०२

अर्थ—सामायिक के समय समस्त आरम्भ और समस्त परिग्रह नहीं है परन्तु ग्रहस्थी है इस वास्ते वस्त्र पहने हुवे है, वस्त्र को छोड शेष अन्य प्रकार तो उस दशा में मुनि के तुल्य ही है। मुनि नग्न होता है, यह वस्त्र सहित है। केवल इतने ही अन्तर मात्रसे इसे मुनि नहीं कहा जाता है। सामायिक करता ग्रहस्थ समस्त आरंभ परिग्रह का अभाव होने के कारण (उपसर्ग के निमित्त) वस्त्र सहित मुनि की तरह यति के भाव को प्राप्त होता है:-

**शीतोष्णदंशमशकपरीषहमुपसर्गमपि च मौनधराः।
सामयिकं प्रतिपन्नाअधिकुर्वीरन्नचलयोगाः ॥१०३**

सामायिक करते समय यदि शीत, उष्णता, वर्षा, पवन, डांस मच्छर, दुष्टों के दुर्वचन, रोग पीड़ा आदिक की परीषह आजावे; तथा दुष्ट शत्रुओ द्वारा, सिंह व्याघ्र सर्पादिक दुष्ट तिर्यंचों द्वारा, तथा अग्नि जलादिक जनित उपसर्ग आ जावे, तो परम धैर्य को धारण कर मन वचन काय को साम्य भाव से—चलायमान न करते हुवे—उस समस्त परीषह तथा उपसर्ग को मौन सहित सहन करे।

भावार्थ—सामायिक करने वाला ग्रहस्थ मौन को धारण कर मन वचन काय की निश्चलता पूर्वक समस्त परीषह तथा चेतन अचेतन कृत उपसर्ग को सहन करता है।

**अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमवसामि भवम्
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके ॥१०४॥**

अर्थ—जिस संसार में मैं रहता हूँ वह अशरण है अशुभ है, अनित्य है, दुख का कारण तथा अनात्म स्वरूप है, और मोक्ष शरणस्वरूप शुभरूप, नित्यरूप, सुखरूप और आत्म स्वरूप है। इस प्रकार सामायिक में ध्यान करना चाहिये।

भावार्थ—सामायिक धारण करने वाला ग्रहस्थ संसार के

सम्बन्ध में विचार करता है कि यह चतुर्गति में परिभ्रमण रूप संसार अशरण है। इस में अनन्तानन्त जन्म मरण करते अनन्त काल व्यतीत हो गया। समस्त पर्यायों मे क्षुधा, तृषा, रोग वियोग, मारन ताड़न आदि के दुख भोगते हुवे कोई शरण नही, किसी काल में किसी क्षेत्र मे कोई रक्षा करने वाला नहीं। इसी कारण संसार अशरण है। संसारी जीव अशुभ कर्म के बन्धन के निमित्त से दुःख के देने वाले अशुभ देहरूप पिंजरे में फंसा हुवा, अशुभ कषाय रूप अशुभभावों मे लीन हुवा, निरंतर अशुभ का ही बंध करता हुवा, अशुभही को भोगता है, इसी कारण संसार अशुभ है। इस जीवको संसारमे अनन्तानन्त काल परिभ्रमण करते २ कदाचित सुक्षेत्रमें निवास, उत्तमकुल, इन्द्रियों की परिपूर्णता, सुन्दररूप, प्रबल बुद्धि, जगत मे पूज्यना मानता तथा राज्य सपदा, धनसंपदा, सुन्दर मित्रों की संगति, आज्ञाकारी महाप्रवीण सुपुत्र, मनोहर वल्लभा (स्त्री) का समागम तथा पण्डितपना, बलवानपना, आज्ञा ऐश्वर्यादिक मनोवांछित भोग, नीरोग शरीर शुभकर्मोदय से प्राप्त हो जावें तो क्षण मात्र मे बिजलीवत इन्द्रधनुष वत तथा इन्द्र जालिये के बनावटी नगरवत नियम से विलय हो जाते है फिर अनन्त काल तकभी प्राप्त नही होते। इसी लिये संसार अनित्य है। संसार दशा मे यह जीव अनादि काल से कर्म बन्ध के कारण शरीर रूपी पिंजरे मे फंसा हुवा जन्ममरणादिक के घोर दुःखों को भोग रहा है, अभी तक इसके दुःखों का अभाव नही हुवा। इस अपेक्षा से संसार दुख का कारण है। संसार परिभ्रमण रूप मेरा निज आत्मा नहीं है, इस अपेक्षा संसार अनात्मा है। ऐसे सामायिक मे तिष्टा

हुवा श्रावक चिन्तवन करता है कि यह परिभ्रमण रूप संसार अशरण है, अशुभ हैं, अनित्य हैं, दुख रूप है, और मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसे संसार में मिथ्या ज्ञान के प्रभाव से मैं अनन्त काल से वास कर रहा हूँ—ऐसी दशा में अब मुझे संसार से छूटने रूप मोक्ष की ही शरण है, मोक्ष की प्राप्ति होने पर यह जीव फिर अनन्तानन्त काल में भी कदापि संसार में नहीं आता, मोक्ष शुभ है, अनन्त कल्याण रूप है, नित्य है, अविनाशी है, अनन्तानन्त रूप है, अनन्त ज्ञानादि रूप और अनाकुलता रूप है, मेरी आत्मा का निज स्वरूप है, पररूप नहीं है। ऐसे सामायिक में तिष्ठता ग्रहस्थ संसार के और मोक्ष के स्वरूप का चिन्तवन करता है। समतारूप परिणामों के साथ सामायिक चाहे दो घड़ी ही क्यों न हो, उस से महान कर्मों की निर्जरा होती है। इन्द्र भी सामायिक की महिमा गाने में असमर्थ हैं, सामायिक प्रभाव से अभव्य जीव भी ग्रैवेयक पर्यन्त जाकर जन्म लेता हैं, सामायिक के बराबर कोई धर्म न हुवा न होगा। इस लिये सामायिक अंगीकार करना ही आत्मा का हित है। जिस को सामायिक पाठ का ज्ञान नहीं होवे पाठ मात्र भर न आता हो तो एकाग्रता के साथ मन बचन काय निश्चल कर, विषयकषायों का त्याग कर पंच नमस्कार मन्त्र को ध्यान करता हुवा दो घड़ी पूर्ण करे।

सामायिक के पंच अतिचार

वाक्कायमानसानां दुःप्रणिधानान्यनादरास्मरणे।
सामयिकस्यातिगमा व्यज्यन्ते पञ्चभावेन ॥१०५॥

सामयिक के पञ्च अतिचार यह हैं:—

१—वचन दु:प्रणिधान:— सामायिक करते समय वचन की संसार सम्बन्धी प्रवृत्ति करना।

२—काय दु:प्रणिधान:—शरीर की संयमरहित, चलायमानपने की चेष्टा।

३—मनो दु:प्रणिधान:—मन में आर्त्त रौद्रादिक चिन्तवन करना।

४—अनादर:—सामायिक को उत्साह रहित निरादर से करना।

५—अस्मरण:—सामायिक करते हुवे देव वन्दना आदि पाठ को भूल जाना, या कायोत्सर्गादि को भूल जाना।

प्रोषधोपवास व्रत

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्य: प्रोषधोपवासस्तु।
चतुरभ्यवहार्य्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभि: १०६

अर्थ—पर्वणि कहिये चतुर्दशी और अष्टमी के दिन चार प्रकार के आहार का सम्यक् इच्छापूर्वक त्याग करना प्रोषधोपवास जानना चाहिये।

भावार्थ— अनादि काल से एक मासमे दो अष्टमी और दो चतुर्दशी यह पर्व होते है। इन पर्वों मे ग्रहस्थ को व्रत सयम सहित ही रहना चाहिये। इसी लिये जो धर्मात्मा संयमी पुरुष होते है वे तो सदैव ही व्रती ही रहा करते है, धर्मानुरागी ग्रहस्थ एक महीनेमे चार दिन तो समस्त पापके आरंभ और इन्द्रिय विषयों को छोड़, व्रतशील सयमसहित उपवास धारण कर खाद्य, स्वाद्य, लेय और पेय चार प्रकार के आहार का त्याग कर संयम सहित तिष्ठै। इसी को प्रोषधोपवास जानो।

सप्तमी के दिन या त्रयोदशी के दिन मध्यान्ह (दोपहर) के समय एक बार भोजन पानादिक कर समस्त आरंभ, वणज सेवा, लेन देन आदि व्यवहार का त्याग कर शरीरादिकसे ममत्व त्याग, किसी एकान्तवस्तिका तथा जिनमंदिर मे, एकांतस्थान या वन के चैत्यालय या किसी शून्य गृह मठादिक या प्रोषधोपवास करने के स्थान मे जाकर समस्त विषय कषायों का त्याग कर, मन वचन काय की प्रवृत्ति को रोक, धर्म ध्यान करते हुवे या स्वाध्याय करते हुवे सप्तमी या त्रयोदशी के आधे दिन को व्यतीत करे। फिर सध्या काल संबन्धी सामायिक तथा देव वन्दना आदि करके रात्रि के समय धर्म कथा या जिनेन्द्र भगवान् का स्तवन आदि करके रात्रि को व्यतीत करे, या धर्म ध्यान पूर्वक शोधित संथारे (बिस्तरे) मे कुछ थोड़ी देर प्रमाद को टाल रात्रि व्यतीत करे। अष्टमी चतुर्दशी के दिन प्रातःकाल सामायिक वन्दनादिक कर्म से निवृत हो प्राशुक द्रव्य से भगवत का पूजन करे, शास्त्र-स्वाध्याय करे, बारह भावनाओं का चिन्तवन करे, इस प्रकार अष्टमी तथा चतुर्दशी के दिन और सारी रात्रि को व्यतीत करे। नवमी तथा पंद्रस के दिन प्रातःकाल संबन्धी सब क्रियाएँ कर चुकने के पश्चात् पूजन वंदनादि करे, फिर किसी उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों में से किसी पात्रका लाभ होजावे तो उसको भोजन करा चुकने के पश्चात आप पारना करे, ऐसे सोलह पहर धर्म सहित व्यतीत करे, तब उत्कृष्ट प्रोषधोपवास होता है।

मध्यम उपवास बारह पहरका होता है। सप्तमी की या त्रयो-दशी की संध्या से नवमी के या पंद्रस के प्रातःकाल तक।

जघन्य आठ पहर का होता है, खानपान तो बारह पहर ही छोड़े, परन्तु आरंभ आठ पहर छोड सकता है। दूसरी विधि यह है कि सोलह पहर धर्म ध्यान करे, आरंभ त्याग करे; मध्यमें जल आवश्यकतानुसार ले सकता है। जघन्य में बीच के दिन एकासन भी कर सकता है।

तात्पर्य ऐसा समझना चाहिये कि अपनी शक्ति को न छिपा करके धर्म लीन हुवा उपवास करे, आगे प्रोषधप्रतिमा का वर्णन करेगे, उस प्रोषधप्रतिमा मे सोलह पहर का नियम जानना और दूसरी व्रत प्रतिमा मे यथाशक्ति व्रत तप संयम धारण कर पर्वों मे धर्म ध्यान सहित रहना।

उपवास के दिन क्या करे

पञ्चानां पापानामलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम्।
स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्य्यात् १०७

अर्थ—उपवास के दिन पंच पापों के त्याग पूर्वक रहे, शृंगार, आभरण का त्याग करे, गृह कार्य आरंभ को, आजीविका के आरंभ को छोड़े और सुगन्धि केशर कपूर आदि तथा इतर फुलेल आदिक खुशबूदार चीजों को न ग्रहण करे, फूलों को न ग्रहण किया जावे, स्नान करने का नेत्र में अंजन सुरमा लगाने का, हुलास सूंघने का त्याग करे तथा नृत्य वादिन के बजाने का, देखने का, सुनने का त्याग करे। और भी पंचइन्द्रियों के भोगों का त्याग करे। (धार्मिक गान सुनने में कोई बाधा नहीं—भगवत् पूजन

के निमित्त शुद्धि के अर्थ यदि प्राशुक शुद्ध जल से स्नान कर लेवे तो अनुचित न होगा ऐसा विचार है) उपवास इन्द्रिय मद मारने को, इन्द्रियों के विषय गमन रोकने को, कामविकार के जीतने को, प्रमाद आलस्यादिक के रोकने को, निद्रा जीतने को, आरंभादिक से विरक्त होने को, परीषह सहन में समर्थ होने के हेतु से धर्म मार्ग से च्युत न होकर दृढ़ रहने को, जिह्वा इन्द्रिय को जीतने को किया जाता है। उपवास अपनी प्रशंसा या लाभ तथा परलोक में राज्य संपदादिक की प्राप्ति के लिये नहीं होता है; उपवास तो केवल विषयानुराग घटाने को और आत्मशक्ति बढ़ाने के लिये किया जाता है। हमारी इन्द्रियें निरन्तर खान पान के स्वाद में प्रवर्तती हैं, उपवास करने से रसादिक के भोजन में लालसा नष्ट हो जाती है, निद्रा पर विजय हो जाती है, काम मार लिया जाता है। इस प्रकार उपवास के महत्व तथा प्रभाव को जान कर उपवास किया जाता है।

उपवास का दिन कैसे व्यतीत करे

धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां
पिवतु पाययेद्वान्यान् ।
ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥१०८॥

अर्थ—उपवासी ग्रहस्थ निद्रा आलस्य रहित हो ज्ञा-

नाभ्यास और धर्म ध्यान में तत्पर रहे, अभिलाषा पूर्वक धर्म रूप अमृत का पान स्वयं करे तथा अन्य भव्य जीवों को धर्मामृत का पान करावे ।

भावार्थ—उपवास के दिन धर्म कथा श्रवण करो, अन्य धर्मात्माओं को धर्म श्रवण कराओ, ज्ञानाभ्यास तथा धर्म ध्यान में लीन होकर उपवास के समय को व्यतीत करो--उपवास के समय को आलस्य निद्रा में व्यर्थ मत गवाओ, आरंभादिक में या विकथा में फजूल मत व्यतीत करो । उस समय में अपनी आत्मा का कल्याण करो ।

उपवास और प्रोषध का अर्थ ।

चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः ।
स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥१०६

भावार्थ--दाल रोटी, भात आदि अशन, जल दूध, शर्बत आदि पीने योग्य पदार्थ, पान, लड्डू पेडा बर्फी तांबूल आदि खाद्य पदार्थ, रबडी चटनी आदि चाटने योग्य स्वादिष्ट पदार्थ इन चार प्रकार के आहार का त्याग तो उपवास कहलाता है । और धारणा के दिन तथा पारणा के दिन एक बार भोजन करना प्रोषध कहलाता है । ऐसे सोलह पहर भोजनादिक का आरंभ त्याग फिर भोजनादिक आरंभ का आचरण करे, वह प्रोषधोपवास कहलाता है ।

प्रोषधोपवास के पंच अतिचार

ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे ।

यत्प्रोषधोपवासव्यतिलङ्घनपञ्चकं तदिदम् ११०

प्रोषधोपवास के पंच अतिचार यह हैं:—

१—आंखों से देखे बिना और कोमल उपकरण से बिना झाड़े पोंछे पूजा के वस्त्र, बर्तन, कपड़े आदि उपकरणों को; तथा शास्त्र, चौकी आदिक को ग्रहण करना।

२—बिना देखे, बिना शोधे उपकरणों का रखना अथवा शरीर के हाथ पांव आदि को फैलाना, पसारना।

३—बिना देखे, बिना शोधे संथारा तथा बिस्तरा बिछाना, तथा बिना देखी बिना शोधि भूमि पर बैठना।

४—उपवास में अनादर करना, उपवास को उत्साह रहित करना

५—उपवास के दिन करने योग्य आवश्यक क्रियाओं को तथा पाठ आदि को भूल जाना।

इस प्रकार जो जीव विषय कषाय तथा आहार का त्याग कर, इस लोक तथा परलोक सम्बधी भोगों की अभिलाषा को छोड़, एक भी उपवास अतिचार रहित करते है, वह बहुत से कर्मों की निर्जरा कर डालते है। जो विषय कषायों के छोड़े बिना केवल आहार मात्र को ही त्याग देते है और अपना कारोबार भी करते रहते हैं, वे देह को वृथा ही कष्ट देते हैं, कर्मों की निर्जरा लेश मात्र भी नहीं करते हैं।

वैयावृत्य शिक्षाव्रत

दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ॥ १११

भावार्थ—परमागम में दान को ही वैयावृत्य कहा है। जो तपोधनी हैं, अर्थात् जो इच्छा निरोधादि तप को ही अपना धन जान रहे हैं क्योंकि तप के बिना समस्त कर्म कलंक मल रहित आत्मा के शुद्ध स्वभाव रूप अविनाशी धन की प्राप्ति नहीं होती है, इसलिये रागादिक कषाय मन का दग्ध करने वाला तप रूपी धन जिन्होंने धारण किया और संसार में भ्रमण कराने वाले तथा नष्ट भ्रष्ट कराने वाले जड़ अचेतन, विनाशीक सोने चांदी रुपये पैसे आदि का जिन्होंने त्याग किया ऐसे गुणों की निधि, परम वीत-रागी दिगम्बर यतियों को अपनी (दातार के) और पात्र की धर्म प्रवृत्ति के निमित्त दान देना वीतरागी मुनियों का वैयावृत्य कहलाता है। यह दान इस हेतु से नहीं किया जाता कि पात्र बदले में हमारा कुछ उपकार करेगा या हमसे प्रसन्न होकर कोई विद्या मंत्रादि हमें दे देवेगा या इसको आहार दान दे देने से नगर के दातारों में हमारी भी प्रसिद्धता तथा मान्यता हो जावेगी या हम राज्य मान्य हो जावेंगे, या हमारे घर में अटूट धन लक्ष्मी आजावेगी और मुझ को भी कोई बड़ा भारी आर्थिक लाभ होगा। ऐसे विकल्प और वांछा दातार को नहीं होनी चाहिये। दातार को चाहिये कि केवल रत्नत्रयधारियों की भक्ति द्वारा अपने को कृतार्थ मानते हुवे, अपने मन वचन काय का तथा अपने ग्रहस्थपने को कृतार्थ मानते हुवे दान देवे

और आनन्द सहित अपने को कृतकृत्य माने । इस का नाम वैयावृत्य है ।

भावार्थ—तात्पर्य यह जानना चाहिये कि सम्यक् दर्शनादि गुण सम्पन्न, भाव गृह तथा द्रव्य गृह रहित तपस्वियों को विधि पूर्वक, अपनी और पात्र की दोनों की धर्म प्रवृत्ति के निमित्त बिना किसी प्रकार का प्रत्युपकार (बदला) चाहे तथा बिना किसी आशा या इच्छा की पूर्ति चाहे भक्ति भाव पूर्वक तथा आनन्द के साथ दान देना वैयावृत्य है ।

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्
वैयावृत्त्यंयावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ११२

अर्थ—संयमियो के गुणों में अनुराग कर उन पर आने वाला नाना प्रकार की आपदाओं को दूर करना, उनके चरणों को रोलना तथा दबाना, तथा और भी जो उपकार हो सके सो भक्ति पूर्वक करना वैयावृत्य है ।

भावार्थ—यहां ऐसा जानना चाहिये कि साधुओ के ऊपर यदि किसी समय कोई चेतन या अचेतन कृत उपसर्ग आजावे तो यथाशक्ति उस उपसर्ग को दूर करे । यदि मार्ग मे चलते हुवे या किसी स्थान पर तिष्टते हुवे किन्ही दुष्ट जीवो ने उन्हे खेदित किया हो और उस से उन के परिणाम क्लेशित हो गये हो तो उन को धैर्य धारण कराना; यदि चलते२ थक गये होवे तो उन के पांवों को रोलना, दबाना, साधु यदि रोगी हो जावें तो उन का संयम मलीन न हो जावे ऐसे यत्नाचार पूर्वक उनके आसन,

शैय्या, वस्तिका को शोधना, यत्नाचार पूर्वक उनको उठावना बैठावना, लिटाना, मलमूत्रादिक करा देना। यदि अबुद्धिपूर्वक मल मूत्रादि कही वस्तिका में या किसी अयोग्य स्थान में निकल गया हो तो उसे उठाकर यत्नाचार पूर्वक किसी अविरुद्ध स्थान में अर्थात् जहां किसी की रुकावट न हो और जहां डालने में किसी जीव को भी किसी प्रकार से कोई बाधा न पहुँचे, डाल देवे। यदि साधुओं के शरीर में कोई मल, कफ आदि लग गया होवे तो उसे पोंछना, आहार के समय संयमियों के योग्य आहार औषध देकर उनकी वेदना दूर करना। काल के योग्य बाधा रहित वस्तु का देना। यदि किसी समय वेदना होने पर चित्त चलायमान हो जावे तो उपदेश द्वारा उनके चित्त को थामना, चलायमान न होने देना, उनके साथ धर्म कथा करना, उनके अनुकूल प्रवर्त्तना, उन का गुणानुवाद करना, इस प्रकार संयमियों के गुणों में अनुराग कर जितना भी हो सके उपकार करना सब वैयावृत्य है।

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन।
अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम् ॥११३

अर्थ—दातार के सप्त गुण सहित शुद्ध श्रावक द्वारा पंच सून रहित तथा आरंभ रहित सम्यक् दर्शन के धारक मुनियों का नवधा भक्ति पूर्वक आदर सत्कार किया जाना दान कहा जाता है।

पात्र—दान तीन प्रकार के पात्रों को भक्ति पूर्वक दिया जाता है—

चक्की, चूल्हा, ओखली, बुहारी और पानी भर कर लाना इन सून रहित तथा द्रव्योपार्जन आदि समस्त आरम्भ रहित दिगम्बर साधु उत्तम पात्र हैं।

वृती सम्यक् दृष्टि श्रावक मध्यम पात्र हैं और अवृति सम्यक् दृष्टि श्रावक जघन्य पात्र है।

दातार के सप्त गुण

उत्तम पात्रों को दान देने वाले श्रावक में नीचे लिखे सप्त गुण होते हैं:—

१—इस लोक संबन्धी यश, कीर्ति, बड़प्पन, राजमान्यता तथा धन धान्यादिक की वृद्धि को न चाहना।

२—क्षमा-क्रोध नहीं करना "दान लेने वाले बहुत आते हैं किस २ को देवें कहां तक देवें" इस प्रकार का क्रोध न करके शान्त भाव के साथ मुनि श्रावकादिकों को दान देना।

३—कपट सहित दान नहीं देना। कहना और दिखाना और, और करना और ऐसा कपट नहीं होना चाहिये। निष्कपट भाव सहित दान देना।

४—दूसरे दातार से ईर्षा करके दान नहीं देना, ईर्षा रहित होकर दान देना।

५—दान देकर विषाद नहीं करना। "क्या करे भाई सब मे ऊँचे गिने जावें, नहीं देवे तो मान घटे", ऐसे खेदखिन्न तथा विषादी होकर दान नहीं देना।

६—दान देकर अपने चित्त मे हर्ष मानना।

७—निरभिमानता-दान देकर गरूर नहीं करना ऐसा अहंकार

नहीं करना चाहिये कि हम बड़े दातार हैं हमारे से बढ़कर दातार है कौन ?

नवधा भक्तिः—

१—संग्रह भक्ति पूर्वक पडगाह कर घर मे ले जाना।

२—उच्च आसन देना।

३—चरण प्रक्षालन करना।

४—नमस्कार करना

५—पूजन करना, अर्घ चढ़ाना

६—मन शुद्धिः

७—वचन शुद्धिः

८—काय शुद्धिः

९—आहार शुद्धि अर्थात् देने योग्य शुद्ध आहार का देना।

दान देने योग्य पदार्थः—

जिन वस्तुओं के देने से राग द्वेष, मान, दुख, भय आदि पापों की उत्पत्ति होती है, वह देने योग्य नहीं। जिन वस्तुओं के देने से तपश्चरण, पठन पाठन, स्वाध्यायादि कार्यों मे वृद्धि होती है, वही देने योग्य है। रागादिक भावों के उत्पन्न करने वाले पदार्थ दान देने योग्य नही है—भूमि, मकान, घोड़ा, हाथी, सोना चांदी शस्त्रादि अथवा कामोद्दीपनादिक बिकार पैदा करनेवाले पदार्थ या विष आदिक दुख देने वाले पदार्थ दान देने योग्य नहीं है। इन वस्तुओं के निमित्त से दान लेने वाला जो पाप बंध करता है उस का फल दान देने वाले को भी सहायक कारण होने से भोगना पड़ता है। इसलिये केवल ऐसी ही वस्तुएं दान देने योग्य

है कि जिन के देने से विकार भाव न उत्पन्न न हो और तपश्चरण आदि गुणों की वृद्धि होवे। कुदान के देने से और कुदान के लेने से इस जीव को अनादि काल पर्यन्त संसार में परिभ्रमण करना पडता है, ऐसा जान कभी कुदान नहीं करना चाहिये और कुपात्र को दान न देना चाहिये।

दान का फल

गृहकर्मणापि निचितं कर्मविमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानां
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि ॥११४

अर्थ—गृह त्यागी अतिथियों (मुनीश्वरों) को दान देना, उनका सन्मान आदि करना उनकी उपासना करना, गृहस्थियों के असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या षट कार्यों द्वारा उपार्जन किये हुये पाप कर्म रूपी मल को शुद्ध कर डालता है, जैसे शरीर पर लगे हुये रुधिर (खून) रूपी मल को जल धो डालता है।

मुनीश्वरों को दिया हुआ दान ही गृहस्थी के आरम्भ द्वारा उपार्जित कर्म मल को धोने के लिये समर्थ है।

दान का प्रभाव

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।
भक्तेःसुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु॥११५

अर्थ—तपोनिधि, परम साम्य भाव के धारक, बाईस परीषहों के सहन करने वाले, निज शरीर से निर्म-

मत्व, पंच इन्द्रियों के विषयों से अत्यन्त विरक्त, मान आदि कषायों से रहित, आत्म विशुद्धता के इच्छुक उत्तम पात्र मुनीश्वरों को प्रणाम करने से उच्चगोत्र, यथा विधि दर्शन विशुद्धतापूर्वक दान देने से भोग सामग्री, उन की उपासना से पूजा प्रतिष्ठा, उन की भक्ति से सुन्दर रूप, स्तवन से त्रैलोक्य व्यापि कीर्ति की प्राप्ति होती है।

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलतिच्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृतां॥११६

अर्थ—यथा योग्य अवसर में सत्पात्रों को दिया गया थोड़ा दान भी, संसारी जीवों को योग्य भूमि में डाले हुवे बड़ के बीज की तरह, उत्तम छाया रूप महात्म्य, ऐश्वर्य और विभूति आदि श्रेष्ठ फल को देने वाला होता है। सारांश यह है कि जैसे ठीक समय पर योग्य भूमिमें बोया हुआ छोटा सा भी बड़ का बीज संसारी जीवों को उत्तम छाया और फल देकर सुख पहुँचाता है, उसी प्रकार सत्पात्रों को विधि पूर्वक दिया हुआ थोड़ा भी दान प्राणियों को लौकिक तथा पारलौकिक सुख देने वाला होता है।

दान के भेद

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।
वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः॥११७

अर्थ—ग्यानी पुरुष आहार दान, औषधि दान, उपकपण (ज्ञान, शास्त्र) दान, आवास दान, इन चारों दानों द्वारा चार प्रकार का वैयावृत्य कहते हैं।

गृहस्थियों के लिये चार प्रकार का दान देना बताया है:— १ आहारदान, २ औषधिदान, ३ उपकरणदान, ४ आवास (वस्तिका) दान।

अभय दान मुनियों के तो पूर्णरूपमें होता ही है, वह तो कृत कारित अनुमोदना से छह काय के जीवों की विराधना के पूर्ण-त्यागी होते है; श्रावकों के भी त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग होने से अभय दान होता है; परन्तु अभय दान का मुख्यता तो आरंभ त्याग और इन्द्रिय विषयों की पराङ्मुखता से होती है, इस लिये जब तक गृहस्थ से, संपदा से तथा न्याय रूप विषयों से परिणाम विरक्त नहीं होते उस समय तक तो ऊपर बताये हुए आहारादि चार प्रकार का दान देकर पाप का क्षय करना उचित है।

१—आहार दानः- यह दान समस्त दानों मे प्रधान है। प्राणियों का जीवन ही आहार मे है। करोडों रुपये के सोने का दान भी आहार दान के समान नहीं है। आहार से शरीर की स्थिति है, शरीर से रत्नत्रय धर्म का पालन होता है, रत्नत्रय के आराधन से निर्वाण की प्राप्ति होती है, निर्वाण अनन्त सुखमय है। त्यागी निर्वांछक साधुओं का उपकार तो विशेषतः आहार दान से ही होता है, आहार के सिवाय और कोई वस्तु तो तिल-तुषमात्र भी वह ग्रहण नहीं करते। आहार के बिना शरीर चलता

नहीं, अनेक रोग हो जाते है। आहार बिना ज्ञानाभ्यास हो सकता नहीं, व्रत, संयम, तप पल सकता नहीं, आहार बिना सामायिक् प्रतिक्रय कायोत्सर्ग, ध्यान आदि में से एक भी नहीं बन आवे। आहार बिना उपदेश न तो दिया जा सके, न ही ग्रहण किया जा सके। आहार बिना प्राणी की जीवन शक्ति, बल, बुद्धि, कीर्ति, शांति, नीति, चाल, रंग ढंग सब नाश को प्राप्त हो जाते हैं। आहार बिना समता संयम, जीवदया, मुनिधर्म, श्रावकधर्म, विनय रूप प्रवृत्ति, न्याय प्रवृत्ति, तप मे प्रवृत्ति सब ही नाश को प्राप्त हो जाती है। आहार के बिना वचन की प्रवीणता जाती रहती है। शरीर का रंग फीका पड़ जाता है, मुख मे से दुर्गंध आने लगती है, शरीर जीर्ण हो जाता है, सब ही चेष्टायें नष्ट हो जाती है। आहार नहीं मिले तो यह प्राणी अपने प्यारे जिगर के टुकड़े, पुत्र पुत्री को बेचने पर उतर आता है। आहार बिना इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती है, और अपना २ कार्य करने से रुक जाती है। आहार बिना जीवित ही मनुष्य मृतक सरीखा हो जाता है, दीनता आ जाती है, संक्लेशमय परिणाम होजाते है,।लोक में अपमान होता है। हर समय चिंता, शोक, भय और क्लेश के संताप से दुःखी रहा करता है। ऐसे महान् कष्ट तथा दुर्ध्यान को दूर करने वाला आहार दान जो कोई भी शुभ भावों के साथ विधि-पूर्वक देता है उस का यश, उसकी कीर्ति तीन लोक मे फैल जाती है, उसके महान् पुण्य कर्म का बंध होता है।

२—औषधि दानः—रोग के नाश करने वाले प्रासुक औषधि का दान देना श्रेष्ठ है, रोग से व्रत संयम बिगड़ जाते हैं, स्वाध्याय

ध्यानादिक समस्त धर्म कार्यों का लोप हो जाता है, रोगी से आवश्यक क्रियाएं भी नही बन आती। आर्त्त ध्यान हो जाता है जिसमे मरण बिगड़ जाता है। परिणाम सक्लेशित होजाते है, कभी २ कोई २ तो आत्मघात करने पर उतर आते है। रोगी पराधीन हो जाता है। उसके मन इन्द्रियां चलायमान होजाती है, उठना बैठना सोना, चलना सब बहुत कठिन होजाता है। क्षण मात्र के लिये चैन नहीं होती। प्रासुक औषधि का दान देकर रोग मिटाने के समान कोई उपकार नही है, रोग दूर होजाने से आहार ग्रहण होता है; रोग रहित होने पर ही समस्त तप, व्रत, संयम ध्यान स्वाध्याय किये जा सकते है। इसलिये औषधि का दान ग्रहस्थो को देना उचित है। शुद्ध प्रासुक बनी बनाई औषधि देना बडा उपकार है। कितने ही बेचारे निधन ऐसे होते है कि जिन को औषधि मिलती नही, कोई उनके करने कराने वाला नही, बिना सहायता औषधि तय्यार हो सकती नही, यदि ऐसे प्राणियों को बनी बनाई औषधि मिल जावे तो अत्यन्त पुण्य का बन्ध औषधि दान करने वाले को होता है। औषधि बाटना, औषधालय खोलना, दीन दु:खी दारिद्री रोगियो के दूध आदि का प्रबन्ध करना, किसी समय महामरी आदि रोग के फैल जाने पर वैद्यों को नौकर रखकर गरीबों का इलाज कराना, उनके घरो पर जा-जाकर उनको औषधि देना, किसी कारणवश किसी दीन हीन पुरुष के या अन्य धर्मात्मा पुरुषों के चोट लग जाने पर या उनके घायल होजाने पर उन की मरहम-पट्टी करना कराना, उनकी सेवा सुश्रूषा का प्रबंध करना कराना, सब औषधि दान ही है। औषधि दान की महिमा अचिन्त्य

है, औषधि दान देने वाले मे वात्सल्य गुण, स्थितिकरण गुण, निर्विचिकित्सा गुण इत्यादिक अनेक गुण प्रगट हो जाते हैं, औषधि-दान के प्रभाव से रोग रहित दिव्य शरीर की प्राप्ति होती है। ससार में यश और कीर्ति फैलते हैं, पुण्य कर्म का बंध होता है।

३—ज्ञान दान:—ज्ञान दान समान जगत मे अन्य कोई उपकार नही है। ज्ञान बिना मनुष्य पशु समान होता है। ज्ञान बिना आपा परका विवेक नही होता, हेयोपादेय का विचार नहीं होता, ज्ञान बिना धर्म अधर्म का बोध नहीं होता। ज्ञान बिना देव कुदेव, गुरु कुगुरु, तथा धर्म कुधर्म का भेद नहीं जाना जाता, ज्ञान बिना मोक्षमार्ग नहीं, ज्ञान बिना मोक्ष नहीं। मनुष्य जन्म ज्ञान ही से पूज्य है, ज्ञान ही से श्रेष्ठ है। इस लिये श्रावकों को उचित है कि ज्ञान दान देवें। धनाढ्यो को चाहिये कि विद्या पढ़ने पढ़ाने के लिये विद्यालय स्थापित करें, छात्रवृत्ति देवें, बुद्धिमान ज्ञानी पुरुषों की आजीविका का उचित प्रबन्ध करके उनका निराकुल कर देवें ताकि उनके द्वारा धर्म का प्रचार होता रहे और धर्म की प्रवृत्ति भविष्य मे चलती रहे। ग्रन्थो को लिखवा कर तथा छपवा कर विद्वानो तथा विद्यार्थियो को देवे। ग्रन्थों का संशोधन करवावे। ग्रन्थो को लिखवाना, पुराने ग्रन्थो का जीर्णोद्धार करना कराना, ज्ञानी पुरुषो से प्रीति करना, उनका यथायोग्य आदर सत्कार करना, अपने आत्म कल्याण के निमित्त अपने को ज्ञानाभ्यास में लगाना, अपनी सन्तान तथा कुटुम्बियो को ज्ञानाभ्यास में लगाना, सब ज्ञान दान है। जैसे बने अन्य लोगो की शास्त्राभ्यास मे रुचि करानी, धर्मोपदेश देना, उनके ज्ञान की वृद्धि करना, उनके चारित्र

को उज्ज्वल बनाना ज्ञान दान है। यदि किसी को शास्त्र ज्ञान हो जाता है तो कितने ही दुराचार नष्ट होजाते है। ज्ञान दान से ही धर्म की वास्तविक प्रभावना होती है, ज्ञान ही धर्म का स्तंभ है, जहाँ ज्ञान दान होगा, वहाँ ही धर्म रहेगा। इस लिये ग्रहस्थों को ज्ञान दान मे प्रवृत्ति करना श्रेष्ठ है, ज्ञान दान के प्रभाव से ही निर्मल केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

४—वस्तिका दानः—मुनियों के ठहरने के निमित्त निर्दोष वस्तिका देना। वस्तिका किसी जीर्ण वन में होवे या किसी ऊजड़ ग्राम का कोई मकान हो जहां साधुओं को ठहरने से किसी को कोई बाधा न पहुँचे, जहां असंयमियों का आना जाना न हो; स्त्री, नपुंसक, तिर्यंचों का आगमन न हो, जीव विराधन-रहित स्थान हो, अंधेरा न हो, जहां साधुओं का धर्म ध्यान, स्वाध्याय आदि शान्ति पूर्वक हो सके। धर्मात्मा पुरुषों के रहने के निमित्त, धर्मसाधन के अर्थ धर्म शाला वस्तिकादि अपनी शक्त्यानुसार बनवा देना अथवा अपने मकान के किसी भाग को धर्म साधन के निमित्त जुदा करदेना, उसमें धर्मात्मा जनों को रख देना; क्योंकि रहने के स्थान बिना धर्म सेवनादिक मे परिणाम स्थिर नहीं रहते हैं, सब वस्तिका दान ही हैं। ये चारों दान भक्ति पूर्वक पात्रों को दिये जाते है। जो दान पात्र कुपात्र अपात्र के विचार रहित केवल दया भाव से दिया जाता है वह दया दान अथवा करुणा दान कहलाता है। करुणा दान भी यत्नाचार पूर्वक दिया जाना योग्य है। दुःखित भूखित, लंगड़े लूले अपाहजों को रोगियों को, अशक्त बूढ़ों, बच्चों को, अनाथों को, विधवाओं को,

बिछुड़े हुवों को, दीन दुःखी विदेशियों को, दुष्टों द्वारा सताये हुये को, चोर डाकुओं द्वारा जो लूट लिया गया हो, घर से बाहर कर दिया गया हो, जिसका कुटम्ब मारा गया हो, भयवान हो, जिसका कोई रक्षक या सहायक न हो, ऐसा प्राणी चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री, बालक हो या बूढ़ा हो, अथवा कोई तिर्यंच हो, इनको भूख प्यास जाडा गर्मी से या किसी रोग, शोक, वियोगादि के कारण पीड़ित तथा दुःखी जान करुणाभाव से भोजन पान वस्त्रादि देना करुणादान है। करुणादान मे यह देख लेना चाहिये कि निंद्य आचरण वालों तथा मांस भक्षी, मद्य पानियों को रुपया पैसा नहीं देना। उनको तो भोजन, अन्न, औषधि मात्र ही देना। हिंसक आरम्भ मे आसक्त, महा परिग्रही, मद्य पानी, वेश्या सेवन में लीन, कुव्यसनी, पापी, धर्म द्रोही, पाखंडी, जिव्हा इन्द्रिय के लंपटी, दंभी, मानी पुरुष अपात्र है। यह दान देने के योग्य नहीं। इनको दान देना पाषाण पर बीज बोने के समान है। इस प्रकार करुणा-दान भी यत्नाचार पूर्वक देना ही फलदायक होता है।

दान में प्रसिद्ध

श्रीषेणवृषभसेने कौण्डेशः शूकरश्च दृष्टान्ताः।
वैयावृत्यस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः॥११८

अर्थ—आहार दान में प्रसिद्ध श्रीषेण राजा हुआ। औषधि दान में वृषभसेना नाम की सेठ की कन्या हुई शास्त्र दान में कौण्डेश नामा ग्वाला हुआ। और वस्तिका के दान में शूकर प्रसिद्ध हुआ।

दान की महिमा अचिंत्य है। दानी इस लोक में ही सबसे ऊँचा हो जाता है। दान से निर्मल कीर्ति जगत मे फैलती है। दान के प्रभाव से शत्रु भी आकर चरणों मे नमस्कार करता है। देना ही जगत मे ऊँचा है। दान विनय सहित, मीठे वचनों सहित देना चाहिए। दानी को अभिमान नही होता। दानी दान देकर यह नही कहता कि मैं पात्र का उपकार कर रहा हूँ। वह तो पात्र को अपना महान उपकार करने वाला जानता है। दान दे कर अपने को कृतार्थ मानता है। जो निर्धन है वह भी अपने भोजन मे से एक ग्रास दो ग्रास दुखित भूखित जीवों को देकर अपने को सफल मानते हैं। मिष्ट वचन बोलना बडा दान है। दूसरों का आदर सत्कार विनय करना, योग्य स्थान देना, कुशल पूछना महा दान है।

दान देकर विषय भोगों की इच्छा न करो। जो दान के बदले मे इन्द्रिय भोगों को चाहते हैं वह अमृत को छोड विष पान करना चाहते हैं। इसलिए निर्वांछक हो कर दान मे प्रवृत्ति करो। लाभांतराय कर्म के क्षयोपशम से जो कुछ भी प्राप्त हो उसमे ही संतोष करो। आगामी के लिये वांछा मत करो। यदि पावभर अनाज भी मिले तो उसमे से भी दान का विभाग करो। दान के निमित्त धन की वांछा मत करो। वांछा का अभाव ही तो परम दान है। और यही परम तप है।

जिनेन्द्र का पूजन वैयावृत्य मे ही आता है, इसलिये जिनेन्द्र के पूजन का उपदेश करने को कहते हैं।

देवाधिदेवचरणे परिचरणं,
सर्वदुःखनिर्हरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनि,
परिचिनुयादादृतो नित्यं ॥११६

अर्थ—इन्द्रादिक द्वारा वन्दनीय देवाधिदेव श्री जिनेन्द्र प्रभु के चरणों की पूजा करना समस्त दुखों का नाश करने वाला है, वांछित फल को देने वाला है और काम को दग्ध करने वाला है, इसलिए अरहन्त प्रभु का पूजन नित्य प्रति बडे आदर पूर्वक भक्ति सहित करना चाहिए ।

भावार्थ—सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी देवाधिदेव श्री अरहन्त प्रभु का पूजन करना गृहस्थ के दैनिक षट् आवश्यकों में से एक है—यदि अरहन्त भगवान् साक्षात मिले तो उनका चरण सेवा में उपस्थित हो अष्ट द्रव्य से उनका पूजन करना चाहिये, यदि अरहन्त प्रभु साक्षात् न मिले तो उनकी वैसी ही ध्यानाकार शान्तिमय, वीतराग प्रतिमा को स्थापित करके उनके द्वारा अरहन्त भगवान का पूजन करना चाहिये। हमारी आत्मा पर जैसा प्रभाव साक्षात् अरहन्त के ध्यानमय वीतराग शरीर के दर्शन पूजन से पडता है वैसा ही प्रभाव उनकी ध्यानमय वीतराग प्रतिष्ठित प्रतिमा के दर्शन पूजन से पडता है जैसा कि कहा है:—

जिन प्रतिमा जिन सारिखी, कही जिनागम माँहि ।
रंचमात्र दूषण लगे, पूजनीक सो नाहि ॥

जो संसारी जीव संसार के माया जाल, और गृहस्थ के प्रपंच में अधिक फंसे हुए हैं, जिनके चित्त अति चचल हैं और जिनका आत्मा इतना बलवान नहीं है कि जो केवल शास्त्रों मे परमात्मा का वर्णन सुन कर एक दम बिना किसी चित्राम के परमात्म-स्वरूप का चित्र अपने हृदय पर खींच सके या परमात्मस्वरूप का कुछ ध्यान न कर सके, वे भी उस मूर्ति अथवा प्रतिबिम्ब के द्वारा परमात्म स्वरूप का कुछ ध्यान और चिन्तवन करनेमे समर्थ हो जाते है और उसीसे आगामी दुखों और पापों की निवृत्ति पूर्वक अपने आत्म स्वरूप की प्राप्ति मे अग्रसर होते है। निरन्तर अभ्यास करते २ उसका मनोबल और आत्म बल बढ जाता है और फिर वह इस योग्य हो जाता है कि उस मूर्ति के मूर्तिमान् अर्हन्त देव का समवसरणादि विभूति सहित साक्षात् चित्र भी अपने हृदय मे खींचने लगता है, यह ध्यान प्रायः मुनि अवस्था मे ही बनता है। बढ़ते २ आत्मीय बल इतना उन्नत हो जाता है कि मूर्ति का अवलम्बन लेने की आवश्यकता नहीं रहती, बल्कि वह रूपस्थ ध्यान के अभ्यास मे परिपक्व हो कर और अधिक उन्नति करता है और साक्षात् सिद्धों का अर्थात निराकार परमात्मा का ध्यान करने लगता है, इस ध्यान को रूपातीत ध्यान कहते हैं। इस प्रकार ध्यान के बल से वह आत्मा से कर्मफल को छांटता रहता है और फिर उन्नति के सोपान पर चढ़ता हुवा शुक्ल ध्यान लगाकर समस्त कर्मों का क्षय कर देता है, और इस प्रकार अपने आत्म तत्व को प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य यह है कि मूर्ति पूजा, आत्म दर्शन की प्रथम सोपान

है। यह पूजा आत्म विशुद्धि के लिए की जाती है। जैन दृष्टि से परमात्मा की पूजा, भक्ति और उपासना परमात्मा को प्रसन्न करने, खुशामद द्वारा उससे कुछ काम निकालने के लिये नहीं होती और न सांसारिक विषय कषायों का पुष्ट करना ही उसके द्वारा अभीष्ट होता है, बल्कि वह खास तौरसे परमात्मा के उपकार का स्मरण करने और परमात्मा के गुणों की (आत्म-स्वरूप की) प्राप्ति के उद्देश्य से की जाती है। परमात्मा का भजन और चिन्तवन करने से, उस के गुणों मे अनुराग बढ़ाने से पापों से निवृत्ति होती है और साथ ही महत्पुण्योपार्जन भी होता है, जो स्वत: अनेक लौकिक प्रयोजनों का साधक है।

जो लोग आत्मलाभ तथा निज आत्म विकास को अपनी उपासना का ध्येय नहीं समझते उनकी उपासना वास्तव में उपासना कहलाने योग्य नहीं। ऐसी उपासना का महत्व बकरी के गले मे लटकते हुए स्तनों से अधिक नहीं हो सकता। परमात्मा तो हमारी पूजा से खुश नहीं होते,पूजा न करने से नाराज नहीं होते। विधिपूर्वक पूजा का भाव-सहित करना परमात्मा के गुणों मे अनुराग बढ़ाता है जिससे पाप परणति छूटती चली जाती है और पुण्य प्रकृति उसका स्थान ले लेती है। श्री समन्तभद्र स्वामी ने श्री वृहत् स्वयंभूस्तोत्र में पूजा के उद्देश्य को स्वयं ही फर्माया है:—

न पूजयार्थ स्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्य गुणस्मृतिर्नः, पुनातु चित्तदुरितांजनेभ्यः॥

अर्थात् "हे भगवन्! पूजा भक्तिसे आपका कोई प्रयोजन नहीं

क्योंकि आप वीतरागी हैं, राग का अंश भी आप की आत्मा में विद्यमान नहीं है, जिसके कारण किसी की पूजा भक्ति से आप प्रसन्न होते हों। इसी प्रकार निन्दा से भी आपका कोई प्रयोजन नहीं है; कोई कितना ही बुरा आपको कहे, गालियां दे, परन्तु उस पर आप को ज़रा भी क्षोभ नहीं आ सकता, क्योंकि आप के आत्मा से वैर भाव, द्वेषांश, बिलकुल दूर हो गया है--वह उस में विद्यमान ही नहीं है--जिससे क्षोभ तथा अप्रसन्नतादि कार्यों का उद्भव हो सकता। ऐसी दशा में निन्दा और स्तुति दोनों ही आपके लिये समान है--उन से आपका कुछ बनता या बिगड़ता नहीं है। तो भी आप के पुण्य गुणों के स्मरण से हमारा चित्त पापों से पवित्र होता है-हमारी पाप परणति छूटती है—इसलिये हम भक्ति के साथ आप का गुणानुवाद करते है--आप की उपासना करते हैं।

जो लोग परमात्मा की पूजा, भक्ति और उपासना नहीं करते वे अपने आत्मीय गुणों से पराङ्मुख और अपने आत्म लाभ से बंचित रहते है। अतः ठीक २ उद्देश्यों के साथ परमात्मा की पूजा, भक्ति, उपासना और आराधना करना सब के लिये उपादेय और आवश्यक है।" —'उपासनातत्व' —पं०जुगलकिशोर

पूजा दो प्रकार की होती है, एक द्रव्य पूजा और दूसरी भाव पूजा। अरहन्त भगवान की प्रतिबिम्ब का वचन द्वारा स्तवन करना, नमस्कार करना, तीन प्रदक्षिणा देना, अंजुली मस्तक पर चढ़ाना, जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल तथा अर्घ—इन अष्ट द्रव्यों का प्रभु प्रतिमा के चरण कमलों में भक्ति

भाव पूर्वक चढ़ाना सब द्रव्य पूजा है। समस्त विकल्प जाल का त्याग करके एकाग्र चित्त हो, परम वीतरागता गुण की प्राप्ति के हेतु, अरहन्त प्रभु के गुणों का चिंतवन करना, अर्हन्त की परम शान्त मुद्रामय प्रतिबिम्ब का ध्यान करना भाव पूजा है। शुद्ध प्रासुक जल से स्नान कर, शुद्ध उज्वल वस्त्र पहन, महाविनय सहित तथा भक्ति सहित अरहन्त की प्रतिमा का शुद्ध निर्दोष जल से अभिषेक करना पूजन है। अभिषेक करते समय ऐसा चितवन करे कि साक्षात् अरहन्त के परमौदारिक शरीर को ही स्पर्शन कर रहा है जैसा कि अभिषेक पाठ में कविवर हरजसरायजी ने कहा है: -

मैं जानत तुम अष्ट कर्म हर शिव गये।
आवागमन विमुक्त रागवर्जित भये ॥
पर तथापि मेरो मनरथ परत सही।
नय प्रमाणतैं जान महा साता लही ॥

पापाचरण तज न्हवन करते चित्त में ऐसे धरूं।
साक्षात श्री अरहन्त को मानो स्नपन परसन करूं ॥
ऐसे विमल परिणाम होते, अशुभ परणति नाश तैं।
विधि अशुभ नसि शुभ बंधतैं, है शर्म सब विधि तासतैं ॥

पावन मेरे नयन, भये तुम दर्श तैं।
पावन पाणि भये तुम चरननि परसतैं ॥
पावन मन ह्वै गयो तिहारे ध्यान तैं।
पावन रसना मानी गुणगन गान तैं ॥

पावन भई पर्याय मेरी, भयो मैं पूरण धनी ।
मैं शक्ति पूर्वक भक्ति की भी, पूर्ण भक्ति नहीं बनी ॥
धन धन्य ते बड़ भाग भवि, तिन नींव शिव घर की धरी ।
वर क्षीर-सागर आदि जल मय, कुंभ भर भक्ति करी ॥

इस प्रकार अरहन्त के प्रतिबिम्ब का अभिषेक कोई प्रभु के स्नान के हेतु से नहीं किया जाता है प्रभु तो सर्वथा शुद्ध है, यह तो पूजक के भक्ति रूप उत्साह का भाव है कि अरहन्त को साक्षात स्पर्शन कर रहा हूँ और ऐसा करने मात्र से मेरी आत्मा की अशुचि दूर हो रही है। कहा है:—

तुम तो सहज पवित्र, यही निहचै भयो ।
तुम पवित्रता हेतु, नहीं मज्जन ठयो ॥
मै मलिन रागादिक, मलतै ह्वै रह्यो ।
महा मलिन तन में वसु विधि वश दुख सह्यो ॥
बीत्यो अनंतोकाल यह, मेरी अशुचिता ना गई ।
तिह अशुचिताहर एक तुम ही, भरहु बाञ्छा चित्त ठई ।
अब अष्ट कर्म निवार सब मल-रोस रागादिक हरो ।
तन रूप कारागेहतैं उद्धार शिव बासा करो ॥

इस प्रकार प्रभु का अभिषेक करते हुवे भावना करनी चाहिये कि हे स्वामिन् आप का अभिषेक करने से मेरा कर्म रूपी मल दूर होवे ।

भगवान् परम वीतरागी हैं, उनको इच्छा नहीं कि कोई उनकी पूजा करे। ऐसा भी नहीं कि पूजन स्तवन करने वाले से तो प्रीति करके उसका उपकार करे और जो निन्दा करे उससे द्वेष करे ।

भगवान की प्रतिमा अचेतन है, उस के सामने जल चन्दन आदि अष्ट द्रव्य द्वारा पूजन करने से क्या लाभ ?

यह ठीक है कि भगवान् वीतराग हैं, उनको किसी से राग द्वेष नहीं। न उनके कोई भूख प्यास आदि की बाधा है कि जिसे शान्त करने के लिये उन्हे किसी आहार आदि की इच्छा हो सम्यक्दृष्टि उपासक भगवानके सामने कभी किसी संसारीक इच्छा की पूर्त्तिके लिये कोई सामग्री नहीं चढ़ाता। वह तो भगवान् की प्रतिमा को वीतरागता होने का सहकारी कारण जानता है, और वीतरागता को छोड़ और वह कुछ चाहता भी नही है। पूजन के समय जो जल चन्दनादि जिनेन्द्र के चरणों मे चढ़ाता है, इस अभिप्राय से नही चढ़ाता है कि भगवान भक्षण करेंगे, या बिना पूजन अपूज्य रहेंगे या कोई वासना लेगे। वह तो भक्ति पूर्वक इस सामग्री को चढ़ा कर संसार भ्रमण तथा विषय वासनाओं से निवृत्त होने की भावना करता है।

जल—जल चढ़ाते समय ध्यान करता है—हे जन्म जरा मरण को जीतने वाले जिनेन्द्र ! मैं जन्म, जरा, मरण के नाश के अर्थ जल की तीन धार, आपके चरणारविन्द मे क्षेपण करता हूँ। आपकी चरण शरण ही जन्म जरा मरण रहित होने का प्रबल कारण है।

चन्दन—हे भवभ्रमण के आताप रहित भगवन् ! मैं संसार परिभ्रमणरूप आताप को नष्ट करने के निमित्त चन्दन कर्पूरादि शीतल द्रव्य, आपके चरणारविन्दमें चढ़ाता हूँ।

अक्षत—हे अविनाशी पदके धारक जिनेन्द्र ! मैं भी अक्षय

पद की प्राप्ति के अर्थ अक्षत आपके चरणारविन्द मे चढाता हूँ ।

पुष्प—हे काम सुभट के जीतन हारे जिनेन्द्र ! मैं भी काम विकार के विध्वंश के निमित्त पुष्प आपके चरणारविन्द मे क्षेपण करता हूँ ।

नैवेद्य—हे क्षुधारोग रहित जिनेन्द्र ! मैं भी क्षुधा रोग के क्षय करने के निमित्त नैवेद्य आपके चरणारविन्द मे क्षेपण करता हूँ ।

दीप—हे मोह अंधकार रहित जिनेन्द्र ! मैं भी मोहतिमिर अथवा अज्ञान अन्धकार को दूर करने के निमित्त दीपक आपके चरणारविंद मे क्षेपण करता हूँ ।

धूप—हे अष्ट कर्म के दाहक जिनेन्द्र ! मैं भी अष्ट कर्म के विध्वंश के निमित्त आपके चरणारविंद मे धूप क्षेपण करता हूं ।

फल—हे मोक्षस्वरूप जिनेन्द्र ! मैं भी मोक्ष फल की प्राप्ति के हेतु आपके चरणारविंद मे फल चढाता हूँ ।

अर्घ—हे परम पूज्य जिनेन्द्र ! आपके चरणारविंद मे अर्घ समर्पण करके मैं भी भावना करता हूं कि मुझे भी अनर्घ पद की प्राप्ति होवे ।

इस प्रकार अपने देश कालकी योग्यता अनुसार एक द्रव्य से, दो द्रव्य से भी, तीन, चार, पाँच, छह द्रव्य से, सात तथा अष्ट द्रव्य से पूजन कर भावों को परमेष्ठी के ध्यान मे लगाना है उनका स्तोत्र पढ उनका गुणानुवाद करना है । इससे पाप कर्म की निर्जरा होती है और महा पुण्य का उपार्जन होता है ।

समस्त जाति कुलके धारक यथायोग्य पूजन कर सकते हैं । समस्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपनी सामर्थ्य, अपनेर ज्ञान

कुल, बुद्धि, सम्पदा, संगति देश कालके योग्य अनेक स्त्री पुरुष, धनाढ्य निर्धन, सरोग नीरोग जिनेन्द्र का आराधन करते हैं। जिनेन्द्र का धर्म जाति कुल के आधीन नही, धन सम्पदा के आधीन नही, बाह्य क्रिया के आधीन नहीं। अपने २ परिणामों की विशुद्धता के अनुकूल फलता है। कोई धनाढ्य पुरुष अभिमानी होकर अपनी प्रतिष्ठा ख्याति की इच्छा से मोतियों के अक्षत तथा माणिकके दीपक आदिसे पूजन करताहै अनेक वादित्र नृत्य-गान द्वारा बडी प्रभावना करता है, तो भी थोडा पुण्य उपार्जन करता है और थोडा भी नही करता है केवल कर्म का ही बध करता है। व र कषायो के अनुकूल होता है। कोई अपने परिणामों की विशुद्धता के कारण अतिभक्ति भाव से प्रेरित होकर एक जल मात्र से या एक फल मात्र से, या स्तवन मात्र से महा पुण्य का बन्ध कर लेता है और अनेक भव भवान्तरों के संचय किये हुवे पाप कर्मों का निर्जरा कर डालता है। धर्म पुण्य धन से मोल नही आता है। जो निर्वांछक है, मन्द कषाय वाले है, ख्याति, लाभ, प्रतिष्ठा आदि की जिनके इच्छा नही है, परमेष्ठी के गुणोमे जो अनुरागी है उनके जिन पूजन अतिशय रूप फल को देने वाली होती है। जिनेन्द्र के पूजनका अचिंत्य प्रभाव है। गृहस्थियों के लिये परिणामों की विशुद्धता करने वाला प्रमुख कारण एक नित्य पूजन करना ही है।

पूजा का महात्म्य

अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनाम वदत्।

भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥१२०॥

अर्थ—जिनेन्द्र पूजन से उत्पन्न हर्षभाव के अनुरागी एक मेंडक ने, राजगृह नगरी में एक पुष्प द्वारा अरहन्त-चरण पूजन का महा प्रभाव भव्य जीवों को दिखलाया।

तात्पर्य कहने का यह है कि जिनेन्द्र पूजन का अचिंत्य प्रभाव है। जब एक पुष्प द्वारा पूजन करने की भावना मात्र से मेंडक एक तिर्यंच को स्वर्ग सुख की प्राप्ति हुई तो भव्य जीवों को तो श्रद्धा, भक्ति पूर्वक क्रिया अर्हन्त पूजन, अवश्य ही परम्परा से मोक्ष के अविनाशी सुख को प्राप्त कराने वाला है।

भावार्थ—गृहस्थियों के लिये पूजन करना एक आवश्यक कार्य है। जिन पूजन निर्धन भी कर सकता है और धनाढ्य भी कर सकता है। जितनी किसी मे सामर्थ्य होवे, उसके अनुसार सामग्री ले पूजन कर सकता है। पूजन आप करना, दूसरे से कह कर प्रेरणा करके कराना, किसी को करते हुवे देख कर उसको भला जानना तथा उसकी अनुमोदना करना सब पूजन ही है। स्तवन करना, वंदना करना भी पूजन है, एक द्रव्य चढ़ाकर भी पूजन होता है, मुख्य उद्देश्य यह है कि अर्हन्त के गुणों मे भक्ति की उज्ज्वलता होवे, उसी के अनुसार पुण्य बंध होता है। इस प्रकार वैय्यावृत्य अधिकार में जिनेन्द्र पूजनका वर्णन किया गया है।

वैयावृत्य के पंच अतिचार

हरितपिधाननिधाने ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि ।
वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमाः पञ्चकथ्यन्ते ॥१२१॥

वैयावृत्य के पाँच अतिचार नीचे लिखे हैं:—

१. हरितपिधान—वृत्तियों को दिये जाने योग्य आहार, जल औषधि को हरे कमल पत्र आदि से ढाँकना ।

२. हरित निधान—हरे पत्र आदिक पर रक्खा हुआ भोजन, जल, औषधि दान देना ।

३. अनादर—दान को अनादर से, अविनय से तथा प्रिय वचन रहित देना ।

४. अस्मरण—पात्र को भोजन के लिये बुला कर आप अन्य कार्य में लग भूल जाना, देने योग्य पदार्थ को या विधि को भूल जाना ।

५. मत्सरत्व—दूसरे दातार के प्रति ईर्षा भाव रख कर दान देना ।

इस प्रकार दान इन पाँचों अतिचार रहित महाविनय के साथ देना चाहिये ।

इति श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे शिक्षाव्रतों का वर्णन करने वाला चतुर्थ अधिकार समाप्त भया ।

सल्लेखना

श्रावक के उपर्युक्त बारह व्रतों को पालन करने वाले को चाहिये कि अन्त समय में सल्लेखना व्रत को धारण करे सल्लेखना बिना व्रतों की सफलता नहीं होती है। अन्त समय में सल्लेखना धारण करना सुवर्णके बने मन्दिरके ऊपर रत्नमय कलश चढ़ाने के समान है।

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसी रुजायां च निः प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥१२२

अर्थ—जिनका कोई इलाज नज़र न आता हो, जिनके मिटने का कोई उपाय दिखाई न पड़ता हो, ऐसे उपसर्ग के आजाने पर, दुर्भिक्ष हो जाने पर, बुढ़ापा आजाने पर, रोग हो जाने पर, धर्म की रक्षा के निमित्त शरीर का त्याग करना, इसको गणधरदेव सल्लेखना कहते हैं।

भावार्थ—शरीर की रक्षा और शरीर की स्थिति सब धर्म के धारण करने के लिये ही है, मनुष्य जन्म तथा नीरोग शरीर का पालन सब धर्म के पालन में ही सफल है। जहां यह निश्चय हो जावे कि अब धर्म नहीं रहेगा धर्म का विध्वंश होगा, श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र नष्ट हो जावेगा, उस समय धर्म की रक्षा के लिये समता भाव पूर्वक शरीर का त्याग करना सल्लेखना है। जिस समय कोई देवकृत, दुष्ट मनुष्य कृत अथवा तिर्यंच कृत उपसर्ग आवे अथवा कोई शीत उष्णता, पवन वर्षा, बाढ़, अग्नि, धूम आदि कृत उपसर्ग आवे; या किसी समय दुष्ट कुटुम्बी जनों के स्नेह से,

मिथ्यात्व की प्रबलता से खाने पीने के लोभ में फँस कर अपने चारित्र धर्म को भ्रष्ट करने के लिये उद्यमी हो जावे तथा राजा या राज्य के अन्य कर्मचारियों द्वारा कोई असह्य अनिवार्य उपसर्ग आजावे तो ऐसे समयमें सल्लेखना धारण करे। यदि किसी समय किसी निर्जन बन में मार्ग भूल जावे, वहाँ से निकलने का कोई मार्ग या उपाय सूझ न पड़े; कहीं ऐसा दुर्भिक्ष हो जावे कि अन्न-पान भी नहीं मिल सके; शरीर तथा इन्द्रियों को शिथिल और असमर्थ करने वाली जरा (बुढ़ापा) आ जावे तो सल्लेखना धारण करना उचित है।

असाध्य रोग के होजाने पर, विकार की प्रबलता हो जाने पर, रोग की दिन २ वृद्धि होजाने पर शीघ्र ही धैर्य धारण कर उत्साह पूर्वक सल्लेखना धारण करना योग्य है। इस प्रकार अवश्य मरण के कारण आजाने पर सम्यक्‌दर्शन, सम्यक्‌ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र तथा सम्यक् तप, इन चारों आराधनाओं की शरण ग्रहण करे। सब शरीर घर कुटंबादि से ममत्व भाव को त्यागे, क्रमशः आहारादिक को छोड़ते हुवे शरीर का त्याग करे। ऐसा यत्न करे कि शरीर छूट जाय और आत्मा के निज स्वभाव रूप सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान चारित्र का घात नहीं होने पावे। ऐसा विचार करे कि शरीर विनाशीक है, अवश्य नाशको प्राप्त होगा। कोटि यत्न करने पर भी कोई देव, दानव मंत्र तंत्र मणि औषधादिक इसकी रक्षा नहीं कर सकेगा, अनेक पर्यायों में अनेकानेक शरीर धारण किये और छोड़े हैं। रत्नत्रय धर्म अनंत भवों में भी प्राप्त नहीं हुवा, अब बड़ी कठिनाई से इसकी प्राप्ति हुई है, यह मेरी

संमार परिभ्रमण से रक्षा करनेवाला है, मेरा यह कल्याणकारी धर्म मलीन न होने पावे। ऐमा दृढ़ निश्चय कर, शरीर में ममत्व त्याग पण्डित मरण के लिये उद्यम करे।

समाधिमरण की महिमा

अन्तक्रियाधिकरणं तप:फलं सकलदर्शिनः स्तुवते
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यं ॥१२३

अर्थ—सर्वज्ञ भगवान् सन्यासमरण की तप के फल रूप प्रशंसा करते हैं अर्थात् जिस तपस्वी ने तप के फल रूप अन्त समय में सन्यास मरण नहीं किया उसका तप निष्फल है। इसलिये जब तक अपना विभव (शक्ति) और सामर्थ्य होवें, यथा शक्ति ममाधिमरण करने का प्रकृष्ट यत्न करना ही योग्य है।

भावार्थ—कहा है अन्त मता सो मता। कोई चाहे जीवन भर कितना ही घोर नपश्चरण क्यों न करे, यदि अन्तकाल मे उसका मरण बिगड़ गया तो वह तप प्रशमा योग्य नही। तप करने से उसे मनुष्यलोक तथा देवलोक की संपदा चाहे कितनी भी क्यों न मिल जावे,परन्तु अन्त समय मे आराधना मरण नष्ट होजाने से संसार परिभ्रमण ही करता रहेगा, अविनाशी पद की प्राप्ति नहीं होगी। जैसे किसी ने बड़ा कष्ट उठाकर देश देशान्तरों मे भ्रमण कर कर बहुत सा धन उपार्जन किया; जब लौटते हुवे अपने नगर के नजदीक आया तो धन दौलत सब लुट गया, दारिद्री होगया, जैसी दशा उस समय इस मनुष्य की हुई वैसी

ही दशा उस मनुष्य की होती है जो समस्त जीवन पर्यन्त तप, व्रत, संयम धारण करके भी अन्त समय में सम्यक् आराधना को नष्ट कर डालता है। ऐसा मनुष्य संसार में भ्रमण किया करता है और अनेक जन्म मरण करने का पात्र होता है।

समाधि मरण की विधि

स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्व-
चनैः ॥ १२४ ॥
आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निश्शेषम् ॥ १२५

अर्थ—उपकारक द्रव्यों से प्रीति और अपकारक द्रव्यों से द्वेष; धन धान्य पुत्र स्त्री आदि में—यह मेरे हैं मैं इनका हूँ—इत्यादि विकल्प; बाह्याभ्यन्तर के समस्त परिग्रह इन सबका त्याग करके, शुद्ध मन से प्रिय वचनों द्वारा अपने परिवार तथा अन्य जनों से (पड़ोसियों से) भी क्षमा याचना करे और आप भी सरलता पूर्वक उनको क्षमा करे। कृत कारित अनुमोदना से, छल कपट रहित अपने समस्त पापों की आलोचना करके मरण पर्यंत महाव्रत को आरोपण करे अर्थात् महाव्रत को ग्रहण करे।

भावार्थ—तात्पर्य यह है कि वीतराग नि॰ ॰ गुरुका समागम हो जावे और अपने राग द्वेषादि मन्द हो गये होवें, अपना शरीर

परीक्षा सहन करने मे होवे, धैर्य गुण का धारी हो, निर्ग्रन्थ वीत-राग गुरु निर्वाह करने को समर्थ हों, देश काल सहाय का शुद्ध संयोग होवे तो महाव्रत को ग्रहण करे। यदि गुरु आदिका समागमन हो तो अपने परिणामों मे ही भगवान् पंच परमेष्ठी का ध्यान करते हुवे अरहंत प्रभु के समक्ष आलोचना करें। अपनी योग्यतानुसार समस्त पापों का त्याग करके अपने घर मे ही रहे। महाव्रती तुल्य हुआ कायरता को छोड रोगादिक की वेदना को बड़े धैर्य के साथ शान्ति पूर्वक सहन करे। कर्मोदय को अपने निज स्वभाव से सर्वथा भिन्न जाने संयोग वियोग मे समता धारण करे, विकल्प रहित तिष्ठे, परिग्रह का त्याग करें। पहले तो यदि किसी का ऋण (क़र्ज़ा) देना होवे तो वह चुका देवे, फिर किसी का धन जायदाद यदि अनीति और अन्याय से लिया होवे तो वह लौटा कर उसे सतोषित करे और उससे अपनी निन्दा गर्हा पूर्वक क्षमा कराके फिर जो रुपया पैसा होवे उस को बांट कर यथा योग्य कुटुम्बी जनों को दे देवे। स्त्री का भाग स्त्री को देवे, पुत्र पुत्रियों का विभाग उन्हे देवे, यदि कोई दीन दुःखी अनाथ विधवा या कोई बहन, बुआ बन्धु आदिक अपने आश्रय हो तो उन को भी यथा योग्य देकर सन्तुष्ट करे। इस प्रकार समस्त परिग्रह का त्याग कर ममत्व रहित हो शरीर संसार का त्याग करे। बारह भावनाओं का चिन्तवन करे। शरीर को बिना शक्ति जान अपने स्वभाव रूप सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को ही सार जाने। ऐसे विनाशीक शरीर से उदास न हो समस्त व्रतों में अधिक दृढ़ता को धारण करे।

शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा ।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः १२६

अर्थ—सन्यास के समय शोक, भय, विषाद, मोह, कलुषता तथा अरति भाव को त्याग कर कायरता का अभाव करे, उत्साह साहस धैर्य को प्रगट करे और श्रुत ज्ञान रूप अमृत का पान कर मनको प्रसन्न करे।

आहार त्याग का क्रम

आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम् ।
स्निग्ध च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः ॥१२७
खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या ।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥१२८॥

क्रमशः अपनी शक्ति तथा आयु को विचार कर आहार का त्याग करे और दूध को ग्रहण करे, फिर दूध का भी त्याग करे; फिर क्रमश जल को भी घटा घटा कर समस्त आहार का त्याग करे और अपनी शक्ति अनुसार उपवास करते हुवे अपने चित्त को पंच नमस्कार मत्र में लीन करे तथा धर्म ध्यान रूप होकर बड़े यत्न पूर्वक शरीर का त्याग करे इसी को सन्लेखना कहते हैं। यहां कोई प्रश्न करे कि आहारादि का त्याग करके मरण को प्राप्त होना आत्मघात है और आत्मघात सर्वथा अयोग्य तथा महा हिंसा का कारण है तो उस का समाधान करते हुवे कहते हैं—यदि कोई मुनि या श्रावक अपने व्रतों का पालन करने के

योग्य है और उसका धर्म साधन निर्विघ्नता पूर्वक हो रहा है, कोई रोग नही, कोई दुर्भिक्ष आदि का भय नही तथा बुढ़ापे के कारण शिथिलता भी कोई नही हुई, तो ऐसी दशा मे आहार का त्याग कर सन्यास माडना योग्य नहीं है। दीर्घ आयु होते हुवे और शरीर द्वारा धर्म सेवन होते हुवे भी आहारादिक का त्याग करे तो आत्मघात का दोष आता है। जिनेन्द्र प्रभु की आज्ञा है कि धर्म सयुक्त शरीर की बड़े यत्न के साथ रक्षा करनी चाहिये। श्री अमृतचन्द्र आचार्य इस विषय मे अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय मे कहते है—

"मरणेऽवश्य भाविनि कषाय सल्लेखना तनूकरण मात्रे।
रागादि मन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्म घातोऽस्ति॥"

(पु० सी०)

जब जीव को यह निश्चय हो जावे कि अब मेरा मरण समय निकट ही है तो उस समय सल्लेखना व्रत को धारण करे और विषय कषायादिक का घटावे तथा राग द्वेष मोहादिक भावो का अभाव करे। ऐसा करने मे आत्मघात का दोष नहीं लगता। जैसे कोई व्यापारी अपने मकान मे आग लग जाने पर पहले तो उस आग के बुझाने का प्रयत्न करता है, परन्तु जब उसका बुझना असम्भव समझने लगता है, तो वह फिर ऐसा कोई प्रयत्न करता है कि उसका व्यवहार न बिगड़े और उसका माल सुरक्षित रहे। ठीक इसी प्रकार जब शरीर मे कोई व्याधि उत्पन्न हो जाती है तो धर्मात्मा पुरुष निर्दोष रीति से उस व्याधि को दूर करने के लिये औषधादिका सेवन करता है। परन्तु जब यह समझने लगता है

कि अब रोग से बचना असम्भव है, तो सल्लेखना धारण कर लेता है, ताकि उसका धर्म न बिगड़ने पावे। इस प्रकार मरणांत समय निश्चय करने के बाद धर्म की रक्षा के निमित्त सल्लेखना व्रत धारण करना अपघात नहीं है। इसी प्रकार अन्य आपत्ति, संकट, उपसर्ग के पड़ते हुवे भी सल्लेखना से मरना ही योग्य है। और भी कहा है—

"योहि कषाया विष्टः कुम्भक जल धम केतु विष शास्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्य मात्म बधः॥
नीयन्तेत्र कषायाः हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
सल्लेखना मपि ततः प्राहुर्हिंसा प्रसिद्ध्यर्थम्॥"

जो जीव क्रोध मान माया लोभ कषाय के वश होकर या इष्ट वियोग के खेद वश होकर या आगामी निदान के वश होकर अपने प्राणोंका घात फाँसी खाकर, जल में डूब कर अथवा विष, अग्नि, शस्त्रादिक द्वारा कर डालते हैं, उन को तो निस्सन्देह अपघात का पाप लगता है। परन्तु सल्लेखना पूर्वक मरण करने वाले को अपघात का दोष नहीं लगता, क्योंकि सल्लेखना में कषायों का क्षीण करना परम आवश्यक है। कषाय हिंसा की मूल कारण है। इसलिए सल्लेखना मे कषायों के क्षीण होने से अहिंसा की सिद्धि है। अपघात का दोष नहीं लगता।

सल्लेखना के अतिचार

जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः।
सल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः१२९

सल्लेखना व्रत के नीचे लिखे पाँच अतिचार हैं:--

१. जीवित शंसा—सल्लेखना धारण करने के पश्चात् जीने की अधिक इच्छा करना।

२. मरण शंसा—रोगादिक की पीड़ा के भय से घबरा कर जल्दी मरने की वांछा करना।

३. भय--भय करना कि देखिये मरण में कैसा दुख होगा कैसे सहन करूंगा।

४. सुहृदानुराग—(भिन्नस्मृति) अपने मित्रों के साथ की हुई क्रीड़ाओं को याद करना–तथा अपने स्वजन पुत्र पुत्री मित्रों को याद करना।

५. निदान—अगले जन्म में विषय भोगादि सुखों के प्राप्त होने की वाँछा करना।

सल्लेखना व्रत को निरतिचार पालन करने से स्वर्गादिक के सुखों की प्राप्ति होती है,परम्पराय से निर्वाण पद की प्राप्ति होती है।

निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्
निःपिवति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥ १३०

अर्थ—जिनेन्द्र के धर्मरूपी अमृत का पान करने वाला श्रावक, समस्त संसारिक दुःखों से दूर रहते हुवे निस्तार (जिसका कोई तीर कहिये पार न हो) तथा कठि-

नता से पार किये जाने वाले अहमिन्द्रादि के सुख और परम्परा रूप तथा निर्वाण मय अनन्त सुख रूपी जल के समुद्र का आस्वादन करता है। तात्पर्य यह है कि अन्त समय में सल्लेखना व्रत को धारण कर मरण करने वाला असंख्यात काल पर्यन्त महाऋद्धि धारी देवों की विभूति को भोग परम्पराय से मोक्ष के अनन्त अविनाश अक्षय सुख को प्राप्त होता है।

निःश्रेयस (मोक्ष) का स्वरूप

जन्मजरामयमरणैःशोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम् ।
नर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥१३१

अर्थ—जीव की जो जन्म, जरा, रोग मरण रहित, शोक दुःख भय रहित और नित्य, अविनाशी, पर के संयोग से सर्वथा रहित, केवल शुद्ध स्वरूप निर्वाण दशा है उसे ही निश्रेयस कहते हैं।

विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यप्रल्हादतृप्तिशुद्धि युजः ।
निरतिशया निरवधयो निःश्रेयसमावसन्ति सुखम्

अर्थ—आत्मा धर्म के प्रभाव से केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त शक्ति, परम वीतरागता रूप निराकुलता, अनन्त सुख, विषयों की निर्वाञ्छकता, कर्म मल रहितता इत्यादि गुण रूप होकर गुणों की हीनाधिकता रहित,

काल की मर्यादा रहित सुख रूप अनन्तानन्त काल तक निःश्रेयस अर्थात् निर्वाण अवस्था में तिष्ठता है।

काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या
उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसम्भ्रान्तिकरणपटुः

अर्थ—तीनों लोकों में संभ्रम (क्षोभ) उत्पन्न कर देने में समर्थ उपद्रव भी कोई यदि हो, तो भी अनन्तानन्त काल बीत जाने पर भी मुक्त आत्माओं में उनके निज-स्वरूप से अन्यथा प्रवृत्ति (विकृत परगति) प्रमाण द्वारा नहीं जानी जा सकती अर्थात् सिद्ध परमात्मा सदैव, अपने शुद्ध चिदानन्द रूप में ही स्थिर रहते हैं, उनको कोई विकार भाव हो नहीं सकता, सिद्ध परमेष्ठी के किसी समय में भी विकार परिणाम होने को कोई किसी प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं कर सकता।

निःश्रेयसमधिपन्नास्त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं दधते
निष्किट्टिकालिकाच्छविचामीकरभासुरात्मनः १३४

अर्थ—मुक्त जीव कीट और कालिमा रहित सोने की प्रभा तथा कान्ति के समान प्रकाशमान निर्मल आत्मा के धारक तीन लोक की शिखा के मणि की प्रभा को धारण करते हैं अर्थात् मुक्त जीव सर्वथा शुद्ध सोने के समान द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा शरीरादि नो कर्मों से सर्वथा रहित

अत्यन्त निर्मल होते हैं और लोक के अग्रभाग-सिद्धशिला में विराजमान होते हैं।

भावार्थ—अनादि काल से यह जीव कर्मों के वशीभूत हो चतुर्गति रूप संसार मे परिभ्रमण कर रहा है, और मिथ्यात्व तथा अज्ञान के कारण निज स्वरूप को न जानता हुवा, कर्म जनित अवस्थाओं मे ही तन्मय होकर उनके अनुकूल आचरण करता हुवा पर ममय रूप हो रहा है। यही जीव जब कर्म जनित अवस्थाओं को, भेद विज्ञान के द्वारा, अपना निज स्वभाव न जान कर और अपने निज स्वभाव को सम्यक् प्रकार पहचानकर, उसमे ही रमण करता है, तो वह वीतराग भाव को बढाता हुवा कर्म बन्धनों मे छूटता हुवा चला जाता है और परम्परासे ज्ञानावरणादि अष्ट द्रव्य कर्मो से, राग द्वेषादि भाव कर्मों से, तथा शरीरादि नो कर्मों से सर्वथा रहित हो परमपद, मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है। सर्व विकारो से तथा शरीरादिक से रहित अमूर्तिक हो शुद्ध चैतन्यमय अविनाशी सिद्ध परमात्मा हो जाता है। सिद्ध परमात्मा की आत्मा मे तीन लोक और अलोक अपने गुण पर्याय सहित ऐसे झलकते है जैसे दर्पण मे अनेक पदार्थ झलकते हैं। सिद्ध अवस्थामे यह आत्मा कृतकृत्य हो जाता है, जो कुछ करना था वह कर चुकता है और कुछ करना शेष रहता नहीं। जिस प्रकार आकाश रज युक्त नहीं होता, अपने स्वभाव मे स्थिर रहता है, किसी के द्वारा घाता नहीं जाता और अत्यन्त निर्मल होता है, उसी प्रकार मुक्तात्मा अपनी निवारण अनन्त शक्ति सहित अपने

अनन्त दर्शन तथा अनन्त ज्ञान स्वरूप को लिये, परम ज्ञानानन्द मे अतिशय मग्न, निरन्तर ही लोक के शिखर स्थित मोक्ष स्थान मे प्रकाशमान होता है। और भी कहा है:—

लोकाग्र शिखरावासी सर्व लोक शरण्यकः।
सर्व देवाधिको देवो ह्यष्ट मूर्ति दया ध्वजः ॥
अच्छेद्योऽनभेद्यश्च सूक्ष्मो नित्यो निरञ्जनः।
अजरो ह्यमरश्चैव शुद्ध सिद्धो निरामयः ॥
अक्षयो ह्यव्ययः शान्तः शान्तिकल्याणकारकः।
स्वयम्भूर्विश्व दृश्वा च कुशलः पुरुषोत्तमः ॥

(आप्तस्वरूप)

सिद्ध परमात्मा लोकाग्र शिखर पर वास करते हैं, सर्व लोक के प्राणियों के लिये शरणभूत है। सर्व देवो के स्वामी महादेव है। सम्यक् आदि अष्ट गुणधारी आप्तमूर्ति है, दया की ध्वजा है, छेद रहित है, भेद रहित है, अतीन्द्रिय सूक्ष्म है, अविनाशी है, कर्माञ्जन रहित निरंजन है, अजर है, अमर हैं, शुद्ध हैं, सिद्ध है, बाधा रहित हैं, अक्षय हैं, अव्यय हैं, शान्त है, शान्ति व कल्याण के कर्ता है, स्वयभू हैं, विश्वदर्शी है, मगलमय हैं, परमात्मा है। सिद्धि सोपान मे भी कहा है:—

"आवागमन विमुक्त हुवे, जिनको करना कुछ शेष नहीं।
आत्मलीन, सब दोष हीन, जिन के विभाव का लेश नहीं ॥
रागद्वेष भय-मुक्त, निरजन अजर अमर पद स्वामी।
मगल भूत पूर्ण विकसित, सत चिदानन्द जो निष्कामी ॥

ऐसे हुवे अनन्त सिद्ध औ, वर्तमान हैं सम्प्रति जो।
आगे होंगे सकल जगत में विबुधजनों से संस्तुत जो॥
उन सब को नत मस्तक हो, मैं, वन्दूं तीनों काल सदा।
तत्स्वरूप की शीघ्र प्राप्ति का, इच्छुक होकर सहित मुदा॥

सल्लेखना का फल

पूजार्थाज्ञैश्वर्यैर्बलपरिजनकामभोगभूयिष्ठैः।
अतिशयितभुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः॥१३५

अर्थ—सम्यक् धर्म के पालन करने से विशेष पुण्य, प्रतिष्ठा, द्रव्य, आज्ञा, ऐश्वर्य, बल, परिजन तथा काम भोग की प्रचुरता से तीन लोक में उत्कृष्ट और आश्चर्य जनक इन्द्रपद, अहमिन्द्रपद की प्राप्ति होती है, तथा अविनाशी, अविकार, मुक्तिपद स्वरूप फल की प्राप्ति होती है।

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः॥१३६

अर्थ—भगवान् सर्वज्ञ देव ने श्रावक धर्म की ग्यारह प्रतिमाएँ (दर्जे) बताई हैं।

१ दर्शन, २ व्रत, ३ सामायिक, ४ प्रोषधोपवास, ५ सचित्त त्याग, ६ रात्रि भोजन त्याग, ७ ब्रह्मचर्य, ८ आरम्भ त्याग, ९ परिग्रह त्याग, १० अनुमति त्याग, ११ उद्दिष्ट आहार त्याग।

श्रावकों के चारित्र को इन ग्यारह प्रतिमाओं में बांट दिया गया है। जिससे एक श्रावक धीरे २ उन्नति करते हुए मुनिपद की योग्यता प्राप्त कर सके। इन में पहली पहली प्रतिमा का आचरण पतित रह कर आगे का आचरण और बढ़ा लिया जाता है।

दर्शन प्रतिमा—१

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः।
पञ्चगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः १३७

अर्थ—संसार, शरीर तथा इन्द्रिय विषय भोगों से विरक्त, निरातिचार शुद्ध सम्यक्दर्शन का धारक, पंच परमेष्ठी की चरण शरण में रहने वाला सर्वज्ञ भाषित, जीवादिक तत्त्वों का श्रद्धान करने वाला तथा सत्यार्थ मार्ग को ग्रहण करने योग्य दार्शनिक श्रावक पहली दर्शन प्रतिमा का धारी श्रावक होता है।

भावार्थ—इस प्रतिमा का धारी श्रावक अपने सम्यक्दर्शन में पच्चीस दोष नहीं लगाता—अष्टांग सम्यक् दर्शन की आराधना करता है। पंच परमेष्ठी के चरण कमल में ही श्रद्धा रखता है। सर्वज्ञ हितोपदेशी देव, दयारूप धर्म, आरम्भ परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ गुरु में ही जिस की अटल श्रद्धा होती है, वह इन की ही आराधना करता है। उस के ऐसा दृढ़ श्रद्धान होता है कि कोई किसी को न मारने वाला है न जिवाने वाला है न कोई किसी दूसरे का सुख दुःख दाता है, न कोई किसी का उपकार अपकार करता है, न कोई किसी को धनाढ्य या रङ्क बनाने वाला है, यह

जीव केवल अपने ही कर्मोदय से जीता है, मरता है, सुखी दुखी होता है, दरिद्री धनाढ्य होता है, अपने कर्मोदय से ही संसार मे भोग भोगता है। व्यन्तरादिक देव मंत्र जत्र की बड़ी भक्ति के साथ पूजा आराधना करते हुवे भी पुण्यहीन जीव का उन के द्वारा कोई उपकार तथा अपकार नहीं होता। जब द्रव्य नष्ट हो जाता है तो सब मित्रादि भी शत्रु हो जाते हैं, पुण्य के प्रभाव से धूलि भस्म पाषाणादि भी देवता रूप होकर उपकार अपकार करने वाले हो जाते है। सम्यक्दृष्टि के तो ऐसा दृढ़ श्रद्धान होता है कि जिस जीव के जिस देश में जिस काल में जिस विधान से जन्म, मरण, लाभ, अलाभ, सुख दुख होना जिनेन्द्र भगवान् के दिव्यज्ञान मे झलक रहा है, उस जीव के उसी देश मे उसी काल मे उसी विधान द्वारा जन्म मरण, लाभ, अलाभ आदि नियम से होते है, उन को दूर करने को कोई इन्द्र अहमिन्द्र तथा जिनेन्द्र प्रभु भी समर्थ नही है। ऐसी दृढ़ता के साथ समस्त द्रव्यो की सब ही पर्यायो को जानता और श्रद्धान करता है। इस प्रतिमा का धारी श्रावक ग्रह आरम्भ और इन्द्रिय विषयो से विरक्त होता है, वह जानता है कि मोह के उदय से मै इन को भोग रहा हूँ इन का त्याग करने मे असमर्थ हूँ तथापि यह हेय है कब इन से छूटू। वह बड़ा विनयवान् तथा धर्मानुरागी होता है, गुणीजनों को देख उस के हृदय मे प्रेम उमड़ आता है उन के गुणों के प्रति उस के चित्त मे बड़ा अनुराग होता है। वह अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को भेद विज्ञान के बल से देह, तथा रागादि भावो से सर्वथा भिन्न अनुभव करता है। इस प्रतिमा का धारी श्रावक अष्ट मूल गुण

का धारक, सप्तव्यसन का सर्वथा त्यागी तो होता ही है. अभक्ष्य और अन्याय को अत्यन्त अनर्थ का कारण जान त्याग करता है।

व्रत प्रतिमा

निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकपि शीलसप्तकं चापि।
धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनामतो व्रतिकः १३८

अर्थ—इस प्रतिमा का धारी श्रावक पंच अणुव्रतों तथा उनके सहायक तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों (सप्त शील व्रत) का निरतिचार, माया मिथ्या, निदान तीनों शल्यों रहित पालन करता है। इस प्रतिमा का धारी श्रावक दृढ़ चित्त, सम भाव संयुक्त और ज्ञानवान हुवा करता है।

सामायिक प्रतिमा

चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुः प्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामयिको द्विषिद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी॥

अर्थ—चारों दिशाओं में तीन २ आवर्त्त करने वाला चार प्रणाम कर कायोत्सर्ग सहित, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह की चिन्ता रहित, पद्मासन अथवा खड्गासन में तिष्टता, मन वचन काय सामायिक करने वाला सामायिक प्रतिमा का धारी श्रावक होता है।

प्रणामः—अङ्गों को धरती से लगा कर मस्तक के निवाने को प्रणाम कहते है।

आवर्त्त.—दोनों हाथों को जोड कर अपने बाये मे दाहिनी ओर घुमाने को आवर्त्त कहते है।

शिरोनति—आवर्त्त मे जोडे हुवे हाथो पर अपने मस्तक के झुकाने को शिरोनति कहते है।

सामायिक करते समय प्रथम ही तो ईर्यापथ की शुद्धि करे, फिर पूर्व मे या उत्तर मे मुह करके हाथ लटका करके खडा होवे। नौवार णामोकार मंत्र अपने मन मे पढ़े और फिर मस्तक भूमि मे लगा कर प्रणाम करे और अपने मन मे यह प्रतिज्ञा करे, कि जब तक सामायिक मे हूँ, जो कुछ मेरे पास है उस के सिवाय अन्य सर्व परिग्रह का त्याग करता हूँ। फिर कायोत्सर्ग खड़ा होकर नौ बार या तीन बार णामोकार मंत्र पढ़े, तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करे। फिर अपने दाहिने की ओर खडा खड़ा हाथ लटकाये हुवे मुड़ जावे। इस ओर भी तीन बार या नव बार णमोकार मंत्र पढ कर तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करे। इसी प्रकार शेष अन्य दो दिशाओं मे भी करे। तत्पश्चात् जिधर पहले मुह करके खडा हुआ था, उधर ही मुँह करके बैठ जावे। पद्मासन या पल्यकासन जमा लेवे या कायोत्सर्ग ही रहे फिर काल का प्रमाण कर साम्य भाव मयुक्त शुभोपयोग रूप या शुद्धोपयोगरूप रहे अर्थात् अपने निज शुद्ध चेतन स्वरूप मे मग्न होवे यदि वह न बन सके तो शुभोपयोग रूप भक्ति या तत्त्व विचार मे प्रवृत्ति करे। सामायिक पढ़े, जप करे, या ध्यान का अभ्यास करे। इस प्रकार काल पूर्ण हो जाने पर जब पाठ जाप या ध्यान समाप्त हो जावे तो कायोत्सर्ग खड़ा हो जावे, यदि कायोत्सर्ग

मे खड़ा होवे तो वैसे ही नव बार णमोकार मंत्र पढ़े और अंतिम दंडवत कर सामायिक को पूर्ण करे। सामायिक के साधन से सहज स्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है। वास्तव मे साम्य भाव का नाम ही सामायिक है।

सामायिक प्रतिमाका धारी श्रावक नियम पूर्वक सवेरे दोपहर और शाम को, प्रतिदिन तीन बार विधि पूर्वक निरतिचार सामायिक किया करता है; उपसर्ग आदि के आ जाने पर भी प्रतिज्ञा से नहीं टलता। सामायिक मे कम से कम समय अन्तर मुहूर्त्त अर्थात ४८ मिनट अवश्य लगाना चाहिये।

४—प्रोषधोपवास प्रतिमा

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।
प्रोषधनियमविधायीप्रणधिपरः प्रोषधानशनः।१४०

अर्थ—प्रत्येक महीने में दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इन चारों पर्व के दिनों में, अपनी शक्ति को न छिपा कर एकाग्रता पूर्वक शुभध्यान में लीन हुवा प्रोषध का नियम करने वाला प्रोषधोपवास प्रतिमा का धारी कहलाता है।

भावार्थ—प्रोषधोपवास प्रतिमा का धारी श्रावक ग्रह आरम्भ तथा भोगोपभोग की सामग्री सब का त्याग करके एकान्त मे जा बैठता है, सोलह प्रहर धर्मध्यान मे व्यतीत करता है। सोलह प्रहर का उपवास नियम पूर्वक निरतिचार पालन करता है।

५–सचित्त त्याग प्रतिमा

मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि ।
नामानियोऽत्तिसोऽयंसचित्तविरतोदयामूर्त्तिः।१४१

अर्थ—जो श्रावक मूल फल पत्र और शाखा; करीर (खैर) या वंश किरण आदि कंदमूल, फल और बीज को बिना अग्नि में पकाये कच्चे निरर्गल हुवा नहीं खाता है, वह दयामूर्ति है और सचित्त त्याग प्रतिमा का धारी कहलाता है।

भावार्थ—सचित्त त्याग प्रतिमा का धारी श्रावक कन्द, मूल, फल, शाक, कोपल, जमीकन्द, फूल, बीज आदि पदार्थों को कच्चे नही खाता, जिव्हा इन्द्रिय के विषय को जीतने के आशय से गरम या प्रासुक जलही ग्रहण करता है। सचित्त पदार्थ का भक्षण नहीं करता है। कृत कारित रूप से सचित्त का त्याग करता है, सचित्त त्याग से जिव्हा इन्द्रिय को जीता जाता है, प्राणियों की दया पलती है, भगवान की आज्ञा का पालन होता है। इस प्रतिमा मे सचित्त का त्याग नियम रूप निरतिचार होता है।

सचित्त को अचित्त बनाने की विधि यह है:—

"सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिल लवरणेहि मिस्सियं दव्वं ।
ज जंतेण य छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं ॥"

अर्थात् सुखाया हुवा, पकाया हुवा, तपाया हुवा, खटाई और नमक से मिला हुवा, तथा यंत्र तंत्र से छिन्न भिन्न किया हुवा

अर्थात शोधा हुवा, ऐसा सब हरित काय प्रासुक कहिये जीव रहित अचित्त होता है।

६—रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरतःसत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः १४२

अर्थ—समस्त प्राणियों के प्रति दया परिणामों के रखने वाला श्रावक रात्रि के समय अन्न का बना भोजन जल, दूध, शर्बत आदि पीने योग्य पदार्थ, पेड़ा, मोदक, पाकादिक खाद्य पदार्थ और रबड़ी, ताम्बूल, इलायची आदि स्वाद्य पदार्थों का तथा औषधि आदिक चार प्रकार के आहार को ग्रहण नहीं करता है।

भावार्थ—इस प्रतिमा का धारी ज्ञानी सम्यकूदृष्टि श्रावक रात्रि को न तो आप ही किसी प्रकार का जल पान व भोजन करता है, और न ही दूसरे को कराता है। खाद्य स्वाद्य लेह्य और पेय चारों ही प्रकार के आहार का रात्रि के समय सर्वथा त्यागी होता है। दो घड़ी अर्थात ४८ मिनट सूर्यास्त से पहले तक व ४८ मिनट सूर्योदय होने पर भोजन पान करना। रात्रि को भोजन पान सम्बन्धी आरम्भ नहीं करना, पूर्ण सन्तोष रखना।

अन्य किन्हीं ग्रन्थों में इस प्रतिमा में दिन में मैथुन सेवन का भी मन वचन काय कृत कारित अनुमोदना से त्याग कहा है, उसमें छठी प्रतिमा का नाम दिवस मैथुन त्याग प्रतिमा भी कहा गया है।

७—ब्रह्मचर्य प्रतिमा

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सं ।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥१४३॥

अर्थ—माता के रुधिर और पिता के वीर्य रूप मल से उत्पन्न, मल को ही उत्पन्न करने से महाअपवित्रता का कारण, सदैव ही जिसके नव मल द्वारों से मल झरता रहता है, महा दुर्गंध रूप तथा भय और घृणा का स्थान ऐसे शरीर को देखते हुवे जो काम सेवन से विरक्त होता है वह ब्रह्मचारी है, अर्थात् ब्रह्मचर्य प्रतिमा का धारी है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य प्रतिमा का धारी श्रावक समस्त ही चार प्रकार की स्त्री, देवांगना, मनुष्यणी, तिर्यंचनी और चित्रामरूप आदिक स्त्री की अभिलाषा मन वचन काय से नहीं करता है। अपनी स्त्री के भोग का भी त्यागी होता है, उदासीन वस्त्र पहनता है और वैराग्य भाव में लीन रहता है। पूर्व भोगे हुवे भोगों का चिन्तवन नहीं करता, कामोद्दीपन करनेवाले पुष्ट आहार का त्याग करता है, संसारीक गीत नृत्य वादित्रादिक का सुनना देखना छोड़ देता है; पुष्पमाला अतर फुलेल आदि सुगंधित पदार्थों का सेवन नहीं करता, शृंगार कथा, हास्य कथा रूप काव्य नाटक का पढ़ना सुनना त्याग कर देता है, सारांश यह कि काम विकार उत्पन्न करनेवाले सब ही कारणों को दूर ही से त्याग कर देता है।

८–आरम्भ त्याग प्रतिमा

सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति ।
प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः ॥१४४

जो हिंसा के कारण नौकरी, खेती वाणिज्य आदि आरम्भ क्रियाओं से विरक्त होता है, वह आरम्भ त्याग प्रतिमा का धारी श्रावक है ।

भावार्थ—इस प्रतिमा का धारी यदि अपना कोई पुत्र पौत्र आदि या अन्य कोई भोजन के लिये बुलाने आता है तो जीम आता है । इस प्रतिमा के धारी के जिनेन्द्र के अभिषेक, पूजन, दान आदि करने का त्याग नहीं होता । धन कमाने के जितने साधन हैं उन सब को पाप के आरम्भ जान त्याग करता है, जितना परिग्रह अपने पास होता है उस को यथायोग्य अपने कुटुम्ब वालों को देकर उस में से अल्प सा अपने पास रख लेता है, नया उपार्जन नहीं करता । जो अल्प धन अपने पास रक्खा है उससे दुखित सुखित जीवों का उपकार करता है, अपने शरीर के साधन औषधि भोजन वस्त्रादि के निमित्त खर्च कर सकता है । यदि चाहे तो अपने किसी हितैषी के तथा साधर्मी के दुःख और कष्ट के निवारणार्थ खर्च कर सकता है, पापारंभ में नहीं लगा सकता, यदि वह मर्यादित अल्प सा धन चोरी चला जाता है या दुष्ट राजा आदि छीन लेते है तो क्लेषित नहीं होता और फिर नये सिरे से और न उपार्जन करने का यत्न नहीं करता, अपने मन में विचारता है कि अच्छा हुवा जाता रहा, मैंने मोह के कारण

ही तो इसे रख छोड़ा था, कर्म ने मेरा बड़ा उपकार किया उस की रक्षा आदि के समस्त आरम्भ से छूट गया। जिस के ऐसे परिणाम होते हैं, उसीके आरम्भ त्याग आठवीं प्रतिमा होती है।

६—परिग्रहत्याग प्रतिमा

बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः
स्वस्थः संतोष परः परिचित्तपरिग्रहाद्विरतः ॥१४५

अर्थ—जो कोई श्रावक धन धान्यादि दस प्रकार के बाह्य परिग्रह में ममत्व भाव त्याग करके निर्ममत्वपने में लीन रहता है, शरीरादिक समस्त पर पदार्थों में आत्म बुद्धि रहित होकर अपने अखंड अविनाशी ज्ञाता दृष्टा स्वभाव में स्थिर रहता है, कर्म संयोग से प्राप्त भोजन, वस्त्र, स्थान आदिक में संतोष कर दीनता रहित अधिक परिग्रह की आकांक्षाओं से निवृत्त होकर तिष्ठता है, और परिचित परिग्रह से अत्यन्त विरक्त रहता है, वह परिग्रह त्याग प्रतिमा का धारी श्रावक होता है।

भावार्थ—इस प्रतिमा के धारी श्रावक के रुपया पैसा सोना चांदी ज़ेवर वग़ैरह समस्त परिग्रह का त्याग होता है। जाड़े गर्मी की वेदना दूर करने मात्र एक हल के से मोल का प्रमाणिक वस्त्र रखता है, हाथ पाँव धोने के लिये तथा जल पीने के लिये एक पात्र मात्र रखता है। घर में या किसी अन्य एकान्त स्थान में पूजन आसन करता है, भोजन वस्त्रादिक जो घर के दे देते हैं

ग्रहण करता है। अपने लिये औषधि आहार पान वस्त्रादिक तथा शरीर सम्बन्धी टहल कराने की यदि इच्छा होती है, स्त्री पुत्रादिकों से कह देता है और यदि वे कर देवें तो अच्छा है यदि वे न करें तो उन से कोई उज़र या शिकायत इस प्रकार की नहीं करे कि हमारा मकान है धन है, आजीविका है उसे भोग रहे हो। हमारा कहा क्यों नहीं मानते। ऐसा उज़र कभी नहीं करता और परिणामों में कभी संक्लेशित नहीं होता।

१०—अनुमति त्याग प्रतिमा

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरत: स मंतव्य

अर्थ—जो कोई आरम्भ में परिग्रह में तथा विवाह मकान बनाना वाणिज्य आदि लौकिक कार्यों में किसी प्रकार की सलाह मशवरा नहीं देता है, और रागादि रहित सम बुद्धि होता है, वह अनुमति त्याग प्रतिमा का धारी श्रावक होता है।

भावार्थ—इस प्रतिमा का धारी श्रावक घर में भी बैठता है, बाहर चैत्यालय मठ, मंदिर में भी रहता है। भोजन के लिये यदि कोई घर का या और कोई श्रावक बुलाने के लिये आता है तो जाकर भोजन कर आता है; जो कुछ गृहस्थ जिमाता है, जीम आता है; ऐसा नहीं कहता कि हमारे लिये अमुक वस्तु तय्यार कर दीजिये। लाभ, अलाभ, हानि वृद्धि, दुख सुख, समस्त कार्यों में हर्ष विषाद रहित हो अनुमोदना नहीं करता।

११ उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥१४७

अर्थ--जो घर को त्याग अपने घर से मुनीश्वरों के निवास योग्य बन में जाकर गुरुओंके समी व्रतो को ग्रहण करके तपश्चरण करता हुआ केवल लंगोटी और खंड वस्त्र को धारण करता है और भिक्षा वृत्ति से भोजन करता है, वह उत्कृष्ट श्रावक उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा का धारक होता है।

भावार्थ—जो समस्त गृह कुटुम्ब से विरक्त होकर बन में जा मुनीश्वरों के निकट दीक्षा ग्रहण करता है; एक कौपीन मात्र या एक कौपीन और खंड वस्त्र जिस से सारा शरीर नहीं ढका जा सके, सिर ढके तो पाँव बिना ढके रहे और पाँव ढके जावें तो सिर उघडा रहे, केवल डांस मच्छर, शीत आताप वर्षा पवन की परीषह से किंचित मात्र सहारे के तौर पर ग्रहण करता है; मौन पूर्वक अयाचीक वृत्ति से भिक्षा द्वारा भोजन ग्रहण करता है, अपने निमित्त बनाया भोजन ग्रहण नही करता, न्योते से बुलाया जावे नहीं, अपने निमित्त यदि कुछ भी आरंभ किया जावे तो भोजन का त्याग कर देवे, बन मे या बाहर वस्तिका में रहे, कोई उपसर्ग या परीषह आजावे तो कायरता और दीनता का त्याग कर सिंह वृत्ति से निर्भय हुवा सहन करे। सदा काल ध्यान

स्वाध्याय मे लीन रहे, गृहस्थ के घर बिना बुलाये जावे और गृहस्थ ने जो भोजन अपने तथा अपने कुटुम्ब के लिये बनाया होवे उसमें से जो कुछ भक्तिपूर्वक दिया जावे ग्रहण करे। रस सहित हो या रस रहित हो, खारा हो चाहे मीठा हो, जो गृहस्थ देवे सो समभाव के साथ ग्रहण करे; एक दिन मे एक बार आहार पान करे, यदि अन्तराय होजावे तो उपवास धारण करे, अनशनादिक तपश्चरण के करने मे सदैव शक्ति प्रमाण उद्यमी रहे। ऐसा श्रावक उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा का धारक कहलाता है। यहाँ इतना विशेष जान लेना चाहिये कि इस प्रतिमा के दो भेद है—क्षुल्लक और ऐलक।

क्षुल्लक:—जो एक खंड चादर व एक कोपीन या लगोट रखते है, मोर पंख की पीछी और एक कमडल रखते है। बालों को कतराते है, गृहस्थ के घर थाली मे बैठ कर एक बार भोजन करते है।

ऐलक.—जो केवल एक लंगोटी रखते है, मुनी की क्रियाओं का अभ्यास करते हैं, गृहस्थ के यहाँ बैठकर हाथ मे ही भोजन करें। स्वयँ मस्तक, दाढ़ी मूछ के केशों का अपने हाथ से लोच करते है।

जब इस जीव के अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव हो जाता है तो यह जीव पाँचवें गुणस्थान मे पदारोपण करता है, और इस गुणस्थान सम्बधी प्रतिज्ञाओं का निरतिचार पालन करता है। इस गुणस्थान मे ही प्रत्याख्यानावरण कषाय की तीव्र-मन्द भेदों की अपेक्षा ग्यारह प्रतिमारूप श्रावक के एकोदेश चारित्र

के भेद किये गये हैं। ज्यों २ कषाय मंद होते जाते हैं, त्यों २ अगली अगली प्रतिमा की प्रतिज्ञा होनी चली जाती है। इन प्रतिज्ञाओं मे आत्मध्यान का अभ्यास बढाया जाता है और इसमें जीव की धीरे २ उन्नति होती चली जाती है। यदि जीव के प्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव हो जाता तो वह मुनिपद को ग्रहण कर दिगम्बरी दीक्षा ले, अपनी आत्मा का अधिक कल्याण करता है: और यदि मुनिपद को ग्रहण करने की शक्ति तथा योग्यता अपने मे नहीं देखता है तो श्रावक के धर्म का ही पालन करता हुवा मरणान्त समय मे आराधना सहित हो कर, एकाग्रचित्त कर, पंच परमेष्ठी का ही ध्यान करते हुवे सल्लेखना पूर्वक अपने प्राणों का त्याग करता है, और विशेष पुण्य का बन्ध कर शुभ गति को प्राप्त होता है।

पहली प्रतिमा से छठा प्रतिमा तक पालन करने वाला जघन्य श्रावक कहलाता है; सातवी, आठवी, नवी प्रतिमा का धारक मध्यम श्रावक, और दसवी ग्यारहवी प्रतिमा का धारक उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। इस प्रकार ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन सक्षेप से किया गया। जो भव्य मुनि धर्म के पालन के लिये असमर्थ है, उन्हे योग्य है कि अपनी शक्त्यानुसार गृहस्थ धर्म का निर्दोष पालन करे और अपने जीवन को सफल बनावें।

इस ग्रन्थ मे मुख्यता से गृहस्थाचरण का ही वर्णन किया गया ह, यदि मुनिआचरण का भी कुछ थोड़ा सा संक्षिप्त वर्णन यहाँ-पर कर दिया जावे तो अनुचित न होगा। मुनि धर्म का संक्षेपसे स्वरूप समझने से गृहस्थ अपने धर्म को अधिक दृढ़ता

से पालन करने लगता है। जिस प्रकार मुनिश्वर मोक्ष मार्ग के साधन मे सर्व देश प्रवृत्ति करते है, उसी प्रकार गृहस्थी का भी मोक्ष मार्ग मे एकोदेश प्रवृत्ति करना कर्तव्य है। इस लिये श्रावकों को भी अपनी पदवी के अनुसार अपनी योग्यता और शक्ति का विचार करते हुवे मुनिश्वरों के आचरण का भी एको-देश ग्रहण करना चाहिये।

मुनियो का चारित्र तेरह प्रकार का होता है--पच महाव्रत तीन गुप्ति तथा पॉच समिति।

मुनिराज हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रह इन पाचो पापों के पूर्ण त्यागी होते है। इन ही के पूर्ण त्याग को महाव्रत कहते है। इन्ही का पूर्ण त्याग साधु का चारित्र है, इन पांचो महाव्रतों को दृढ़ता के साथ पालन करने के लिये ही तीन गुप्ति और पच समिति का पालन किया जाता है। इन पांचो पापों के सर्वथा त्याग करने को सकल चारित्र कहते है। इस चारित्र का यथार्थत: पालन शुद्धोपयोग स्वरूप मे आचरण करने वाले मुनि ही किया करते है। वास्तव मे देखा जाय तो हिंसादिक पाचो पाप हिंसा मे ही गर्भित है, क्योंकि यह सब आत्मा के शुद्धोप-योग रूप परिणामों के घात का कारण है। अतएव यह सब हिंसा के ही भेद है, जहां हिंसा का सर्वथा त्याग होता है वहां इन का भी त्याग हो जाता है।

१. अहिंसा महाव्रत—मन वचन काय से तथा कृत कारित अनुमोदना से सकल्पी तथा आरंभी दोनों ही प्रकार की हिंसा का सर्वथा त्याग करना, या स्थावर जीवों की रक्षा करना, अपने

परिणामों का सदैव अहिंसात्म रखना और कषाय भावों से अपनी रक्षा करना।

२. सत्य महाव्रत—मन वचन काय से सर्वथा असत्य का त्याग करना। सदैव शास्त्रोक्त, हित मित मिष्ट वचन ही कहना।

३ अचौर्यमहाव्रत—मन वचन काय से सर्वथा चोरी का त्याग करना-जल तथा मिट्टी भी बिना दिये ग्रहण नहीं करना।

४ ब्रह्मचर्य महाव्रत—मन वचन काय से सर्वथा मैथुन का त्याग करना-काय विकार से अपने परिणामों की प्रत्येक समय रक्षा करना।

५. परिग्रह त्याग महाव्रत—मिथ्यात्वादि चौदह प्रकार के अतरंग परिग्रह और धन धान्यादि दस प्रकार के बाह्य परिग्रह, इस प्रकार २४ प्रकार के परिग्रह का मन वचन काय से सर्वथा त्याग करना।

गुप्ति:—भले प्रकार मन वचन काय योगों की यथेच्छा प्रवृत्ति के रोकने को गुप्ति कहते है। गुप्ति तीन है।

१. मनोगुप्ति—ख्याति, लाभ, मान की वांछा के बिना मनोयोग को रोकना।

२ वाग्गुप्ति-ख्याति लाभ, मान की वांछा के बिना, योग को रोकना।

३. कायगुप्ति—ख्याति, लाभ, मान वचन की वांछा के बिना काय योग को रोकना। गुप्ति ही मुनिपद का मूल है। गुप्ति बिना सम्यक् चारित्र नहीं होता और सम्यक् चारित्र बिना मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता।

समिति:—सावधानता पूर्वक प्रवृत्ति को समिति कहते हैं।

समिति पाँच होती है।

१ ईर्यासमिति—परम अहिंसा के धारक, जीवों की उत्पत्ति स्थानों को भली भांति जानने वाले साधु सावधान होकर सूर्योदय के बाद, जब हर एक चीज़ अच्छी तरह से दिखाई देने लगे; और पृथ्वी, मनुष्य, हाथी, घोडे, गाड़ी आदि के चलन फिरने से मर्दित होकर प्रासुक हो जावे, तब आगे की चार हाथ प्रमाण भूमि को भले प्रकार देख कर तथा शोध कर धीरे २ चलते है। इस प्रकार सावधानता पूर्वक चलन का नाम ईर्या समिति है।

२ भाषा समिति—हित मित सन्देह रहित वचनों का बोलना कर्कश, निष्ठुर, अप्रिय वचन न बोलना।

३. एषणा समिति—विधि पूर्वक दिन मे एक बार निर्दोष आहार ग्रहण करना। मुनिराज छियालीस दोषों तथा ३२ अन्तरायों को टाल कर कुलीन श्रावक के घर केवल तपवृद्धि के हेतु दिन मे एक बार आहार लेते है। शरीर के पुष्ट करने का उन का अभिप्राय नही होता।

४—आदान निक्षेपण समिति—शरीर पुस्तक कमडलु आदि उपकरणों को देख कर और पीछी से शोध कर यत्नाचार पूर्वक उठाना तथा रखना।

५. व्युतसर्ग समिति—नेत्रों से देख कर, यत्नाचार पूर्वक प्रासुक जीव जन्तु रहित भूमि पर मलमूत्रादि को डालना;- भूमि गीली न हो, उस से हरे अंकुर न फूट रहे हों। लोगों के आने जाने के मार्ग से दूर हो, ऐसे स्थान मे मल मूत्र डालना। यह

पाँच समिति मुनि व्रत का मूल है। मुनिराज अपने चारित्र की शुद्धि के हेतु इन का पालन निर्दोष किया करते है। श्रावकों को भी यथाशक्ति इन का पालन करना चाहिये। मुनिराज तो पूर्णतया पालन करते है, श्रावक एकोदेश कर सकते है।

दशलक्षण धर्म

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश धर्म हैं।

१ उत्तम क्षमाः—दुष्ट लोगो के द्वारा तिरस्कार, हास्य ताड़न, मारन आदि क्रोध की उत्पत्ति के कारण मिलने पर भी अपने मे सामर्थ्य होते हुए भी परिणामों मे क्रोध कषाय रूप मलिनता न लाने को उत्तम क्षमा कहते है। क्रोध कषाय जीव का एक महान् शत्रु है, इस क्रोध शत्रु को जीतना क्षमा है। क्रोध जीव के सन्तोष भाव, निराकुलता भाव आदि समस्त ही गुणो को दग्ध करने के लिये अग्नि के समान है। क्रोध जीव की बुद्धि को भ्रष्ट करके निर्दयी बना देता है। वास्तव मे वही जीव पुण्यवान है जिनके क्षमा गुण प्रगट होता है। जहाँ उत्तम क्षमा है वहाँ रत्नत्रय धर्म है। विद्वानो के लिये उत्तम क्षमा चिन्तामणि रत्न के समान है। जहाँ असमर्थ जीवोके दोष क्षमा किये जाते हैं, जहाँ असमर्थों के ऊपर क्रोध नहीं किया जाता, जहाँ आक्रोश वचनो को समता पूर्वक सहन किया जाता है, जहाँ दूसरों के दोष प्रगट नही किये जाते, जहाँ चित्त मे आत्मा का चैतन्य गुण धारण किया जाता है, वहाँ

ही उत्तम क्षमा होती है। उत्तम क्षमा का धारण करने वाला जीव समस्त लोक में पूज्य होता है, परम्पराय से मोक्ष को प्राप्त होता है।

२. उत्तममार्दव.—कुल मद, जाति मद, रूप मद, ज्ञान मद, धन मद, बल मद, तप मद, प्रभुता मद इन आठ प्रकार के मद न करने को उत्तम मार्दव कहते हैं। मान कषाय का अभाव होने पर ही मार्दव नामा गुण आत्मा में प्रकाशमान होता है। मार्दव धर्म दया धर्म का मूल कारण है, जिसके हृदय में मार्दव गुण होता है वह सब जीवों का हितैषी होता है। मार्दव गुण सहित जीवों का ही व्रत पालना, संयम धारण करना, ज्ञान का अभ्यास करना सफल है, अभिमानी का निष्फल है। अभिमानी को जिनेन्द्र भगवान् के गुणों में भी प्रीति नहीं होती, अन्य साधारण पुरुषों की विनय करने की तो बात ही क्या है? मार्दव धर्म से ही जिनेन्द्रदेव की भक्ति प्रकाश होती है। मार्दव धर्म कुमति का नाश करने वाला है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र, विनय और व्यवहार विनय मार्दव धर्म से ही बढ़ती है। मार्दव गुण से आत्मा के परिणाम अत्यन्त निर्मल हो जाते है। मार्दव धर्म का धारी मनुष्य तीनों लोकों को मोहित कर लेता है। मार्दव धर्म का धारी बालक का, बढ़े का, निर्धन का, रोगी का, मूर्ख का तथा जाति कुलादि हीन पुरुषों का भी यथायोग्य प्रिय वचनों द्वारा तथा यथायोग्य स्थान द्वारा आदर सत्कार करने में कदाचित भी नहीं चूकते। वे कभी न कोई उद्धतता का वचन कहते है और न कोई अन्य उद्धतता का व्यवहार ही करते हैं। वे सदैव ही उद्धतता रहित, अभिमान

रहित, नम्रता तथा विनय सहित ही जगत में प्रवर्तते हैं। ऐसा जान मान कषाय का अभाव कर मार्दव गुण का प्रकाश करना ही भव्यात्माओं का कर्तव्य है।

३. उत्तम आर्जव—मन, वचन, काय की सरलता का नाम आर्जव है। मायावी पुरुष के व्रत, संयम, तपश्चरणादि सभी निष्फल होते हैं। माया एक शल्य है। जिसके हृदय में शल्य है, वह बाह्य में व्रतादि का पालन करते हुए भी व्रती नहीं कहा जा सकता। आर्जव धर्म आत्मा का एक गुण है जो माया कषाय के अभाव हो जाने पर प्रकट होता है। आर्जव धर्म अतीन्द्रिय सुख का एक पिटारा है, संसार रूपी समुद्र से पार होने के लिये जहाज के समान है। अतीन्द्रिय अविनाशी सुख को प्राप्त कराने वाला है। ऐसा जान कुटिलता को त्याग आर्जव धर्म धारण करना ही योग्य है।

४—उत्तम शौच—अन्तरंग में लोभ कषाय के अभाव होने को और बाह्य में शरीर को पवित्र रखने को शौच कहते हैं। स्नानरूप बाह्य शौच गृहस्थियों के लिये ही है, मुनियों के लिये नहीं। शौच धर्म आत्मा का एक अखण्डगुण है, लोभ कषाय के अभावहोने से प्रकट होता है, शास्त्रों के पठन पाठन से उत्तम २ गुणों के मनन करने व विचार करने से शौच धर्म होता है। माया मिथ्या निदान इन तीनों शल्यों के अभाव और क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों के त्याग से शौच धर्म होता है। ब्रह्मचर्य व्रत का धारण करना ही शौच धर्म है। आत्मा के निर्मल परिणाम होने से ही शौच धर्म होता है। शौच धर्म का

ऐसा स्वरूप जान, अपने निज स्वरूप मे दृष्टिधार अशुभ परिणामों का अभाव कर अपने आत्मा को शुद्ध करो।

५—उत्तम सत्य—मीठे, हितमित, स्वपर हितकारी सत्य वचन बोलना, कुवचन का त्याग करना, उत्तम सत्य है। सत्य वचन दया धर्म का कारण है, समस्त दोषों को दूर करने वाला है, इस भव तथा पर भव मे सुख देने वाला है। सत्य वचन ससार मे निरुपमेय है। सत्य धर्ममे अन्य गुणो की महिमा बढती है सत्य धर्म से आपत्तिया नाश हो जाती है। ऐसा जान सदैव हितरूप और परिमित वचन कहो, दूसरे को दुःख पहुँचाने वाले या दूसरे को किसी प्रकार भी बाधा करने वाले वचन कदापि न कहो।

६—उत्तम संयम—पाँचो इन्द्रिय और मन का निरोध करना, तथा छह काय के जीवों की रक्षा करना संयम कहलाता है। यह सयम दो प्रकार का होता है। १-इन्द्रिय सयम २-प्राण सयम। इन्द्रियो के विषयों मे रागभाव के अभाव को इन्द्रिय सयम कहते है। छह काय के जीवों की रक्षा करना प्राण संयम है। पचव्रतों का धारण करना, पच समिति का पालन करना, कषायों का निग्रह करना, मन, वचन, काय तीनो योगो की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना, तथा इन्द्रिय विजय को ही परमागम मे सयम कहा है। सयम की प्राप्ति बड़ी दुर्लभ है। सयम से सम्यक् दर्शन की पुष्टि होती है संयम बिना मनुष्य भव शून्य है, गुण रहित है। संयम बिना यह जीव अनेक दुर्गतियों को प्राप्त होता है। संयम बिना दीक्षा ग्रहण करना, व्रत धारण करना, मुन्ड मुँडावना, नग्न

रहना, भेष धारना यह सब ही वृथा है। संयम ही जीव को इस भव मे और पर भव मे शरण है। दुर्गति रूप सरोवर के शोषण के लिये संयम ही सूर्य के समान है। संसार परिभ्रमण का नाश बिना संयम कभी नहीं हो सकता। ऐसा जान संयम को यथा शक्ति धारण करो और निरन्तर ऐसी भावना करो कि संयम बिना जीव की एक घड़ी भी न जाने पावे।

७—उत्तम तप—मान बड़ाई के भाव बिना कर्म क्षय करने के निमित्त अनशनादि बारह प्रकार के तप करना, तथा इच्छा का निरोध करना उत्तम तप है। इच्छाओं का निरोध कर विषयो मे राग घटाना तप है। तप से जीव का कल्याण होता है। तप काम, निद्रा, प्रमाद को नष्ट करने वाला है। इस प्रकार तप मे से जैसा २ करने को अपनी सामर्थ्य होवे, वैसा ही तप करना चाहिये। अपना संहनन, बल, वीर्य तथा देशकाल की योग्यता देख कर ही तप करना चाहिये। जिस तप मे उत्साह बढ़ता रहे और परिणामों की उज्वलता बढ़ती जावे वही तपश्चरण करना योग्य है।

८ उत्तम त्याग—सर्व विभाव भावो का त्याग करना, निज चेतन स्वभाव का ग्रहण करना निश्चय त्याग है। व्यवहार मे त्याग दान को कहते है। निः परिग्रही होने के कारण मुनि, शास्त्र व्याख्यान अर्थात् ज्ञान दान और समस्त जीवों को अभय दान ही दे सकते है। श्रावकके लिये जरूरी है कि चार प्रकार का दान आहार दान, औषधि दान, शास्त्र दान और अभय दान, पात्रों

को भक्ति पूर्वक और दीन दुःखी जीवों को करुणा बुद्धि पूर्वक देवे।

९—उत्तम आकिंचन्य—अन्तरंग तथा बाह्य के २४ प्रकार के परिग्रह के अभाव को, तथा शरीरादिक मे ममत्व भाव न रखने को आकिंचन्य कहते है। "अपने ज्ञान दर्शनमय स्वभाव बिना अन्य किञ्चित मात्र भी हमारा नहीं है, मैं किसी अन्य द्रव्य का नही हूँ, मेरा कोई अन्य द्रव्य नही है" —ऐसे अनुभव को आकिंचन्य कहते है। आकिञ्चन्य परम वीतरागपने की ही दशा का नाम है। आकिंचन्य धर्म मुख्यतया साधुजनों के ही होता है, तथापि एकोदेश धर्म का पालनहारा गृहस्थ भी है जो इस धर्म के ग्रहण करने की इच्छा करता है, ग्रहस्थाचार मे मन्दरागी होता है परिणामों मे उदासीनता धारण करता है और प्रमाणिक परिग्रह को ही रखता है। आगामी वांछा रहित होता है, अन्याय का धन कदापि ग्रहण नही करता है, अल्प परिग्रह मे सन्तुष्ट रहता है, परिग्रह को दुःख देने वाला जान उसे अत्यन्त अस्थिर मानता है।

१० उत्तम ब्रह्मचर्य—स्त्री संभोग के त्याग तथा परम ब्रह्म आत्मा मे ही रमण करने को उत्तम ब्रह्मचर्य के बिना समस्त व्रत तप असार है, ब्रह्मचर्य बिना समस्त काय क्लेश निष्फल है, ब्रह्मचर्य व्रत को मन वचन काय द्वारा प्रेम पूर्वक पालन करने से जीव परमात्मा पद को प्राप्त हो जाता है। यदि शील की रक्षा चाहते हो, उज्वल यश कीर्ति चाहते हो, धर्म को निर्दोष पालन करना चाहते हो, तो ब्रह्मचर्य का पूर्णतया पालन करो, जिस

प्रकार अपनी आत्मा काम के राग में मलीन न होवे, उस प्रकार यत्न करो और इन्द्रिय के सुख से विरक्त होकर अन्तरग परमात्म स्वरूप आत्मा की उज्वलता तथा निर्मलता को ही अवलोकन करो।

यह दश लक्षण धर्म कोई पर वस्तु नहीं है, आत्मा का निज स्वभाव है, क्रोधादिक कर्म जनित उपाधियों के दूर होने पर स्वयमेव ही यह दश लक्षण रूप आत्मा का निज स्वभाव प्रकट हो जाता है। क्रोध के अभाव से क्षमा, मान के अभाव से मार्दव, माया के अभाव से आर्जव, लोभ के अभाव से शौच, असत्य के के अभाव से सत्यधर्म, कषायों के अभाव से संयम गुण, इच्छा के अभाव से तप गुण प्रकट होते हैं। पर मे ममतारूप परिणामों के अभाव से त्याग धर्म होता है, पर द्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करने से आकिंचन्य धर्म प्रकट होता है, तीन वेद छह कषाय के अभाव से तथा आत्म स्वरूप में प्रवृत्ति करने से ब्रह्मचर्य धर्म प्रकट होता है। यह दश लक्षण धर्म आत्मा का स्वभाव है, किसी जगह से मोल देकर लिया नहीं जा सकता किसी जगह पहाड़ मे, बन मे, तीर्थ मे रखा नही जो वैसे ही उठा कर लाया जा सके, यह तो आत्मा का निज स्वभाव है, समस्त क्लेश दुख रहित स्वाधीन आत्मा का ही सत्य परिणमन है। इस का लाभ सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् ज्ञान से ही होता है। यह दश लक्षण धर्म मोक्ष मार्ग का मूल है। मुनिराज तो इस धर्म का पूर्णतया पालन करते है, श्रावकों को भी इस का पालन अपनी योग्यतानुसार यथाशक्ति अवश्य ही करना चाहिये।

बारह भावना

बार बार विचार करने को भावना कहते हैं। यह भावनायें बारह है:—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि, दुर्लभ, धर्म ।

पंच महाव्रत के धारी तथा संसार और विषय भोगों से सर्वथा विरक्त मुनिराज परम वैराग्यता की प्राप्ति के हेतु, "वैराग्य की माता" इन बारह भावनाओं का बार बार चिन्तवन किया करते है। इनके चिन्तवन से ममता रूपी सुख प्रकाशमान होता है, जैसे हवा के लगने से अग्नि प्रकाशित होती है। यह भावनाये परमार्थ मार्ग के दिखाने वाला है, तत्वोंका निर्णय कराने वाली है, सम्यक्त को उपजावने वाली है, अशुभ ध्यान को नष्ट करने वाली है। स्वावलम्बन का पाठ सिखाने वाली है।

१. अनित्य भावना—संसार, शरीर भोग, इन्द्रियों के विषय धन, यौवन आदि सब असार है, सदा स्थिर रहनेवाले नही है। जैसे इन्द्र धनुष देखते देखते नष्ट हो जाता है, बिजली अपना चमत्कार दिखाकर झट नष्ट हो जाती है, वैसे ही इन्द्रियों के भोग तथा धन यौवन आदि क्षण भंगुर है, आत्मा ही नित्य है, अखंड है, ध्रुव है। ऐसा विचार कर आत्मा के हितरूप कार्य में प्रवर्तन करो। ऐसा विचार बार बार करना अनित्य भावना है। इसलिये अनित्य भावना को क्षण मात्र भी मत भुलाओ, इससे पर पदार्थों से ममत्व भाव छूटता है और आत्म कार्य में प्रवृत्ति होती है।

द्रव्य दृष्टितैं वस्तु थिर, पर्यय अथिर निहार ।
उपजत विनशत देखकें, हर्ष विषाद निवार ॥

२. अशरण भावना—जैसे सिंह हिरण को आ दबोचता है उसी तरह काल, देव, असुर, चक्रवर्ती आदि सबको आ दबोचता है, और नष्ट कर डालता है। मणि यंत्र तंत्र आदि कितने ही उपाय क्यों न किये जावे, आयु कर्म के पूर्ण हो जाने पर कोई भी जीव को मरण से नहीं बचा सकते। जीव को संसार में किसी की भी शरण नही है, व्यवहार नय से तो चार शरण है, अरहंत परमेष्ठी की शरण, सिद्ध परमेष्ठी की शरण, साधु परमेष्ठी की शरण, और जिनधर्म की शरण, निश्चय नय से केवल अपने ही शुद्ध चिदानन्द रूप आत्मा की शरण है। इस प्रकार निरन्तर चिन्तवन करने का नाम अशरण भावना है। सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र आत्मा का अपना स्वरूप है, यही परमार्थ रूप शरण है, अन्य सब अशरण है, निश्चय श्रद्धान कर इस ही की शरण ग्रहण करो।

वस्तु स्वभाव विचार तैं, शरण आपकूं आप ।
व्यवहारे पण परमगुरु, अवर सकल संताप ॥

३ संसार भावना—यह जीव अनादि काल से कर्मोदय अनुसार चतुर्गति रूप संसार मे भ्रमण करता हुआ अनेक दुःखों को सहन करता है और द्रव्य, क्षेत्र, काल भव और भाव रूप पंच परिवर्तन किया करता है। संसार सर्व प्रकार से असार है, इसमे जरासा भी सुख कहीं नहीं है। नरक गति मे नाना प्रकार

के छेदन, भेदन, ताडन, तापन आदि अनेक पीडायें उठानी पड़ती है। तिर्यञ्च गति मे भूख, प्यास, शक्ति से अधिक बोझा उठाना इत्यादि अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। मनुष्य गति मे इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग आदि अनेक दुःख भोगने पडते है। अनेक माँसिक चिन्तायें नित्य प्रति सताया करती है। देवगति मे भी देवाँगनाओं के वियोग के समय देव को बडा खेद होता है, अन्य देवों को मरते देख अपनी मृत्यु का भय सताता है। अपने मरण से पहले माला मुरझाई देख महाव्याकुलता को प्राप्त होता है तथा अन्य देवों की अधिक सम्पत्ति देख कर ईर्षा पैदा होती है—इत्यादि अनेक कष्टो का अनुभव करना पडता है। इस प्रकार चारों ही गति दुःखरूप है. संसार मे कहीं भी सुख नहीं है। पंचम गति मोक्ष मे ही अतिन्द्रिय, निराबाध, अविनाशी निराकुलता रूप सुख की प्राप्ति इस जीव को होती है। ससार का ऐसा स्वरूप विचार चारों गतियों से उदासीन हो, मोक्ष का उपाय करना ही जीव का परम कर्तव्य है। निरन्तर ऐसा चिन्तवन करने का नाम संसार भावना है। ससार के सत्यार्थ स्वरूप का बारम्बार चिन्तवन करने वाले के ससार से उदासीनता रहती है, किसी न किसी दिन विरक्त हो ससार परिभ्रमण को दूर करने के उद्यम मे सावधान हो जाता है।

पंचपरावर्तन मई, दुख रूप ससार।
मिथ्या कर्म उदय यहै, भरमै जीव अपार ॥३॥

४. एकत्व भावना—अपने शुभाशुभ कर्म के फल को यह जीव आप, अकेला ही भोगता है। पुत्र स्त्री आदि कोई भी इसके

दुख सुख के साथी नही होते। ये सब अपने स्वार्थ के ही सगे होते है, आत्मा सदा ही अकेला है, जन्म मरण के समय अकेला ही होता है, अकेला ही अनक अवस्थाओं को धारण करता है। इस संसार मे इस जीव का धर्म को छोड़ अन्य कोई भी हेतु नही है। निरन्तर इस प्रकार चिन्तवन करना एकत्व भावना है। एकत्व भावना के भाने से स्वजनों मे प्रीति नहीं बढती, अन्य परिजनों मे द्वेष का अभाव हो जाता है। अपने आत्मा की शुद्धता के लिये अधिकाधिक प्रयत्न करता है।

एक जीव पर्याय वहु, धारे स्वपर निदान ।
पर तज आपा जानकै, करो भव्य कल्याण ॥४॥

५ अन्यत्व भावना—जल और दूध की तरह शरीर और जीव का मेल अनादि काल मे हो रहा है, परन्तु है दोनो जुदा जुदा, एक नही है। जब अनादि काल से मिले हुवे होकर भी यह एक नही है तो धन धान्य, मकान, पुत्र स्त्री आदि जो सर्वथा ही अपने से जुदा है अपने कैसे होगे। इस प्रकार शरीर कुटुम्बादिक से अपने स्वरूप को सर्वथा भिन्न चिन्तवन करने का नाम अन्यत्व भावना है। जो ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्म, राग द्वेषादिक भाव कर्म, शरीरादिक नो कर्म, इनको अपने निज स्वभाव से सर्वथा भिन्न जानकर ज्ञान दर्शनमय शुद्ध चिदानन्द रूप आत्मा का सेवन करते है, उनके अन्यत्व भावना कार्यकारी हैं।

निज आतम तैं भिन्न पर, जानै जे नरदक्ष ।
निज मे रमै वमै अपर, ते शिव लखैं प्रत्यक्ष ॥५॥

६. अशुचि भावना—यह शरीर मांस, खून, पीप और विष की थैली है। हड्डी, चरबी आदि अपवित्र वस्तुओं के कारण मैली है। जिस शरीर के नव द्वारों से महाघृणा उत्पन्न करने वाला मैल बहा करता है, उस मैले शरीर से क्या यारी करनी? यह शरीर महा अशुच है, आत्मा ज्ञानमई महा पवित्र है। आत्मा का शरीर से क्या संबंध? केवल विचार मात्र से ही भावना नहीं होती। देह को अशुचि विचार करने से, यदि परिणामों में वैराग्य भाव प्रकट होता है तो भावना सत्यार्थ कही जाती है, अन्यथा नहीं। ऐसा चिन्तवन करने का नाम अशुचिभावना है। शरीर के अशुचिपनेका चितवन करने से शरीर संस्कारों में तथा रूपादिक में राग भाव का अभाव होता है और परिणामों में वीतरागता बढ़ती है।

"स्वपर देह कू अशुचि लख, तजै तास अनुराग।
ताके साची भावना, सो कहिये बड भाग" ॥६॥

७. आस्रव भावना—मन वचन काय की चंचलताई से कर्मों का आना होता है। यह कर्मों का आना बड़ा ही दुखदायी है, बुद्धिवान पुरुष सदैव ही कम आस्रव को रोकने का यत्न किया करते है। पाँच मिथ्यात्व,बारह अव्रत ,२५ कषाय और १५ योग इस प्रकार ५७ द्वारों से जीव के शुभाशुभ कर्मों का आना होता है इसी का नाम आस्रव है। यह आस्रव दो प्रकार का होता है, शुभास्रव और अशुभास्रव। शुभ योग जन्य कर्मो के आस्रव को शुभ आस्रव कहते है और अशुभ योग जन्य कर्मोंके आस्रव को अशुभास्रव कहते है। आस्रव से बन्ध होता है, जो संसार

का मूल कारण है। इस लिये मोक्षाभिलाषी पुरुषों को उचित है कि वह आस्रव और बंध के कारणों से विमुख रहे, इस प्रकार आस्रव के स्वरूप का चिन्तवन करना आस्रव भावना है। आस्रवके ५७ द्वार इस प्रकार हैः—

पंच प्रकार का मिथ्यात्व—१ एकान्त मिथ्यात्व—वस्तु मे अनेक स्वभाव होते हुये भी एक ही को ग्रहण करना। २ विपरीत मिथ्यात्व—अधर्म को धर्म जानना, उल्टे श्रद्धान को विपरीत मिथ्यात्व कहते है। ३ विनय मिथ्यात्व—समस्त प्रकार के देव, कुदेव, सुगुरु कुगुरु, धर्म अधर्म आदि सब को एकसा मानना तथा सब की ही विनय भक्ति करना। ४ संशयमिथ्यात्व—जिनेन्द्र भगवान के वचनों म सन्देह करना, निर्णय न करना। ५ अज्ञान मिथ्यात्व—हिताहित की परीक्षा रहित देखा देखी श्रद्धान करना।

बारह अव्रत—पांच इन्द्रिय और छठे मन का असंयम और छह काय के जीवो की अदया।

२५ कषाय—अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ; अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया लोभ; सज्ज्वलन क्रोध मान माया लोभ। इस प्रकार ये सोलह कषाय और हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद ये नौ-नौ कषाय, कुल मिलकर २५ कषाय होते है।

१५ योग—४ मनोयोग—सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग, अनुभय मनोयोग।

४ वचन योग—सत्य वचन योग, असत्य वचन योग, उभय वचन योग, अनुभय वचन योग।

७ काय योग—औदारिक काय योग, औदारिक मिश्र काय योग वैक्रियक काय योग, वैक्रियक मिश्रकाय योग; आहारक काय योग, आहारक मिश्रकाय योग और कार्माण योग इस प्रकार कुल मिलकर ५७ आस्रव के कारण होते है।

जो पुरुष पूर्वोक्त मिथ्यात्वादिक भावों को हेय जानते हुवे अपने वीतराग भाव मे तल्लीन हो इनका त्याग करता है उसके आस्रव भावना होती है।

"आस्रव पच प्रकार कू, चितवै तजै विकार।
ते पावै निज रूप कूं, यहै भावना सार" ॥७॥

संवर भावना—जिन जीवों ने अपने परिणामों का पुण्य और पाप रूप न होने देकर निज आत्मानुभव मे ही अपने मन को लगाया, उन्होंने ही आते हुवे कर्मो को रोका, और संवर की प्राप्ति कर सुख को प्राप्त किया। कर्मों के आस्रव का रोकने का नाम संवर है। संवर के कारण पंच महाव्रत, पच समिति, तीन गुप्ति, दशलक्षण धर्म, बारह भावना और बाईस परीषहो के स्वरूप का बार बार चिन्तवन करना, संवर अनुप्रेक्षा है। जो जीव इन्द्रिय तथा मन को वश में कर, विषय कषाय से परॉमुख हो, राग द्वेषादि रहित अपने ज्ञान स्वभाव आत्मा मे प्रवृति करता है उसके संवर भावना होती है।

गुप्ति समिति वृष भावना, जयन परीषहसार।
चारित धारै मग तज, सो मुनि संवर धार॥ ८॥

९—निर्जरानुप्रेक्षा (निर्जरा भावना)—जो कर्म अपनी स्थिति पूर्ण होने पर झड़ जाते है, उससे अपना कार्य नही बनता, तपश्चरण करके जो कर्मो को उनकी स्थिति पूर्ण होने से पहले ही नष्ट कर डालता है, वह ही अपने मे मोक्ष सुख को दर्शाता है। पूर्व संचित कर्मो के उदय मे आकर खिर जाने को निर्जरा कहते है। यह निर्जरा दो प्रकार की होती है, एक सविपाक निर्जरा और दूसरी अविपाक निर्जरा। कर्म की स्थिति पूर्ण होने पर, फल देकर स्वय कर्मो के झड़ जाने को सविपाक निर्जरा कहते है यह निर्जरा सब ही संसारी जीवो के हुवा करती है। कर्मो की स्थिति पूर्ण होने से पहले ही कर्मो को तपश्चरण आदि द्वारा, अनुदय अवस्थामे ही झाड देने को अविपाक निर्जरा कहते है। यह निर्जरा सम्यक् दृष्टि व यतीश्वरो के हुआ करती है। इस प्रकार निर्जरा के स्वरूप तथा उसके उपायों का बार २ चितवन करना निर्जरा भावना है। जो उत्तम पुरुष इन्द्रियों को और कषायो को महादुःख रूप जान कर उनको जीतते है और समभाव रूप सुख मे लीन होकर बारबार अपने स्वरूप की उज्वलता का स्मरण किया करते है, उन्ही के कर्मो की बड़ी निर्जरा हुवा करती है और वही परम अतिन्द्रिय अविनाशी अनंत सुख को प्राप्त किया करते है।

पूर्वे बाँधे कर्म जे, क्षरैं तपोबल पाय।
सो निर्जरा कहायहे, धारैंते शिव जाय ॥९॥

१०—लोक भावना—इस लोक को न किसी ने बनाया है और न कोई इसे धारण किये हुवे है। यह लोक जीव, पुद्गल

धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों से भरा हुआ है, कोई भी इसका नाश नहीं कर सकता। इस लोक की आकृति पुरुषाकार है, लोकाकाश के अग्र भाग में सिद्ध शिला है, जहाँ अनंत सिद्ध विराजमान है इत्यादि लोक की रचना तथा स्वरूप के चितवन करने को लोक भावना कहते हैं। लोक के तथा जीवादिक पदार्थों के स्वरूप को जान कर अपने ज्ञायक स्वभाव मे निश्चल हो जो कर्म कलंक को अपनी आत्मा से धो डालता है वही अन्य जीव मोक्ष के परम अतीन्द्रिय अविनाशी सुख को प्राप्त होता है।

कुण्डलियाँ—लोकाकार विचारकै, सिद्ध स्वरूप चितार।
राग विरोध विडारकै, आतम रूप सँवार॥
आतम रूप सँवार मोक्षपुर बसो सदा ही।
आधि व्याधि जर मरन आदि दुख व्है न कदा ही॥
श्री गुरु शिक्षा धार टार अभिमान कुशोका।
मन थिर कारन यह विचार निजरूप सुलोका॥१०॥

११-बोधिदुर्लभ भावना—इस जीव ने नौ ग्रीवक तक जाकर अनन्त बार वहाँ का अहमिन्द्रपद पाया, परन्तु सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। ऐसे कठिन सम्यक् ज्ञान को मुनियों ने निज आत्मा मे ही साधन किया है, यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति बड़ी दुर्लभ है जैसा कि भूधरदासजी ने भी कहा है:—

धन कन कंचन राज सुख, सबै सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक यथारथ ज्ञान॥

इस प्रकार यथार्थ ज्ञानकी दुर्लभता का बार२ चिंतवन करना बोधि दुर्लभ भावना है।

छप्पय-बसि निगोद चिर विकसि खेद सहि धरनि तरुनि बहु।
पवनबोद जल अगि निगोद लहि जरन मरन सहु॥

लट गिडोल उटकण मकोड़ तन भमण कर॥
जल विलोल पशु तन सुलोक नभचर सर उर पर॥

फिरि नरक पात अति कष्ट सहि, कष्ट कष्टनरतन महत।
तह पाय रत्नत्रय चिगत जे, ते दुर्लभ अवसर लहत॥

१२ धर्मभावना—सम्यक्‌दर्शन ज्ञान चारित्र तप आदिक जे भाव हैं वे सब मोह भाव से जुदे हैं,और यही भाव धर्म रूप हैं। इस रत्नत्रय धर्म को जब जीव धारण करता है तब स्थिर सुख अर्थात् मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेता है। वस्तु का निज स्वभाव ही उसका धर्म है। जीव का स्वभाव चैतन्यमई है, इस परम निर्मल चैतन्यता को प्राप्त करना ही जीव का परम धर्म है। धर्म रत्नत्रय रूप है धर्म दश लक्षण रूप है अथवा अहिंसा रूप है। इस प्रकार धर्म के स्वरूप को बार बार चिन्तवन करने को धर्म भावना कहते है। मुनिराज इनका विचार नित प्रति किया करते है, श्रावकों को चाहिये कि इनके चिन्तवन द्वारा वे भी अपने मन को कोमल तथा निर्मल बनावे।

मुनि श्रावक के भेदतैं, धर्म दोय परकार।
ताकू सुन चितवो सतत, गहि पावो भवपार॥ १२॥

बाईस परीषह जय

मुनिराज कर्मों की निर्जरा तथा काय क्लेश करने लिये जो परीषह अर्थात् पीड़ा समता भावों से स्वयं सहन करते है, उसको परीषह जय कहते है। परीषह बाईस है—

(१) क्षुधा (२) तृषा (३) शीत (४) उष्ण (५) दंश मशक (६) नग्न (७) अरति (८) स्त्री (९) चर्या (१०) आसन (११) शय्या (१२) आक्रोश (१३) बध (१४) याचना (१५) अलाभ (१६) रोग (१७) तृण स्पर्श (१८) मल (१९) सत्कार पुरस्कार (२०) प्रज्ञा (२१) अज्ञान (२२) अदर्शन।

१. क्षुधा परिषह जय—भूख की वेदना होने पर उसके वश न होकर दुःख सह लेने को कहते है।

२ तृषा परीषह जय—प्यास की तीव्र वेदना होने पर उसके वश न होकर दुःख सह लेने को कहते है।

३ शीत परीषह जय—शीत अर्थात् जाड़े के कष्ट सहन करने को कहते है।

४. उष्ण परीषह जय— उष्णता अर्थात् गरमी के संताप सहने को कहते है।

५ दश मशक परीषह जय—डास मच्छर बिच्छू कनखजूरे आदि जीवों के काटने की वेदना को सहन करने को कहते है।

६. नग्न परीषह जय—किसी प्रकार के भी वस्त्र न धारण कर नग्न रहने को और लज्जा ग्लानि तथा किसी भी प्रकार के विकारों को न होने देने को कहते है।

७. अरति परीषह जय—संसार के इष्ट अनिष्ट पदार्थों मे राग द्वेष न कर समताभाव धारण करने को कहते हैं।

८. स्त्री परीषह जय—ब्रह्मचर्यव्रत भंग करने के लिये स्त्रियों द्वारा अनेक उपद्रव किये जाने पर भी चित्त मे किसी प्रकार का विकार भाव उत्पन्न नहीं होने देना।

९. चर्या परीषह जय—किसी प्रकार की सवारी की इच्छा न करके मार्ग के कष्ट को न गिन कर भूमि शोधन करते हुवे गमन करने को कहते है।

१०. आसन परीषह जय—देर तक एक ही आसन मे बैठे रहने का दुःख सहन करने को कहते है।

११ शय्या परिषह जय—खुर्दरी, पथरीली, कांटों वाली कठोर भूमि मे शयन करके दुखी न होने को कहते है।

१२ आक्रोश परीषह जय—दुष्ट मनुष्यों द्वारा कुवचन कहे जाने पर तथा गालियां दिये जाने पर भी किंचितमात्र भी क्रोधित न हो कर उत्तम क्षमा धारण करने को कहते है।

१३ बधपरीषह जय—दुष्ट मनुष्यों द्वारा बध बंधनादि दुःख दिये जाने पर समता भाव धारण करने और उन दुःखोंको शाँति पूर्वक सहन करने को कहते है।

१४. याचना परिषह जय—किसी से भी किसी प्रकार की भी याचना न करने को कहते है। मुनिराज भूख प्यास लगने अथवा रोग हो जाने पर भी भोजन औषधादि नहीं माँगते।

१५ अलाभ परीषह जय—अनेक उपवासों के बाद नगर मे भोजन के लिये जाने पर भी निर्दोष आहार वगैरह न मिलने

पर भी संक्लेशित न होने को कहते हैं।

१६ रोग परीषह जय--शरीर मे अनेक रोग हो जाने पर ममताभाव के साथ पीडा को सहन करते हुवे अपने आप रोग दूर करने का उपाय न करने को कहते हैं।

१७ तृण स्पर्श परीषह जय--शरीर मे शूल काँटा कंकर फांस आदि चुभ जाने पर दुःखी न होने और उनके निकालने का उपाय न करने को कहते है।

१८. मल परीषह जय—शरीर मे पसीना आ जाने अथवा धूल मिट्टी लग जाने के कारण शरीर के महा मलीन हो जाने पर स्नान आदि न करके चित्त निर्मल रखने को कहते है।

१९ सत्कार पुरस्कार परीषह जय—किसी के आदर सत्कार अथवा विनय प्रणाम वगैरह न करने पर तथा तिरस्कार किये जाने पर हर्ष विषाद न करके समता भाव धारण करने को कहते है।

२०. प्रज्ञा परीषह जय—अधिक विद्वान अथवा चारित्रवान हो जाने पर भी किसी प्रकार के मान कषाय को न रखने को कहते हैं।

२१. अज्ञान परीषह जय—बहुत दिनों तक तपश्चरण करने पर भी अवधि ज्ञान आदि न होने से अपने आप खेद न करने को और ऐसी दशा मे दूसरों से "अज्ञानी" "मूढ़" आदि मर्म भेदी वचन सुनकर दुखित न होने को कहते है।

२२. अदर्शन परीषह जय—बहुत दिनों तक अधिक तपश्च-रण करने पर भी किसी प्रकार के फल की प्राप्ति न होने से

सम्यक् दर्शन को दूषित न करने को कहते है।

इन सब परीषहों से शरीर सम्बन्धी वा मन सम्बन्धी जो अत्यन्त पीड़ा होती है, उसे समता भाव पूर्वक सहन कर लेने से संवर होता है और पूर्व वद्ध कर्मों की निर्जरा होती है। मुनिराज तो इन परीषहों को पूर्णतया जय करते हैं। गृहस्थोंके लिये भी इनका जय करना परम कर्तव्य है। इन बाईस परीषहों मे से जीव के एक साथ उन्नीस परीषह उदय मे आसकती है, क्यों कि शीत उष्ण मे से एक काल मे शीत या उष्ण एक ही परीषह होगी, और शय्या, चर्य्या, निषद्या इन तीनों मे से भी एक काल मे एक ही होगी इस प्रकार एक समय में ३ परीषहों का अभाव होने के कारण १९ परीषह ही एक साथ उदय मे आसकती हैं, प्रज्ञापरीषह और अज्ञान परीषह ज्ञानावरणी कर्म के उदय होने पर होती है। दर्शन मोहनी के उदय से अदर्शन परीषह और अनन्तराय के उदय से अलाभ परीषह होती है। चारित्र मोहनी के उदय से नग्नता, अरति स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, और सत्कार पुरस्कार ये सात परीषह होती हैं, बाकी की क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंश मशक, चर्य्या, शैय्या, बंध, रोग, तृण स्पर्श और मल ये ग्यारह परीषह वेदनीय कर्म के उदय होने पर होती है। इन बाईस परीषहों का सहन करना परम संवर का कारण है, परीषहों के सहन करने से चित्त निश्चल हो जाता है, चित्त की निश्चलता से ध्यान की सिद्धि होती है, ध्यान से कर्मो की निर्जरा हो मोक्षपद की प्राप्ति होती है, इसलिये मोक्षाभिलाषी मुनि के लिये इन २२ परीषहों का सहन करना अति आवश्यक है।

चारित्र पंच प्रकार

आत्मस्वरूप मे स्थित होना चारित्र है, इसके पाँच भेद हैं:—(१) सामायिक चारित्र—आत्मा मे लीन होना—समता परिणाम रखना, (२) छेदोपस्थापना चारित्र—सामायिक चारित्र से गिरने पर फिर चारित्र मे स्थित होना (३) परिहार विशुद्धि—ऐसा आचरण जिस मे विशेष २ अहिंसा का त्याग हो। (४) सूक्ष्म सांपराय दसवे गुणस्थानवर्ती का चरित्र, जहां मात्र सूक्ष्म लोभ का उदय है। (५) यथाख्यात चारित्र—पूर्ण वीतराग चारित्र।

बारह तप

दोहा—अनशन ऊनोदर करे, व्रतसख्या रस छोर।
विविक्त शयन आसन धरे, काय कलेश सुठोर ॥ १ ॥
प्रायश्चित धर विनययुत, वैया वृत्य स्वाध्याय।
पुनि उत्सर्ग विचारके, धरे ध्यान मन लाय ॥२॥

तप चारित्र का ही एक भेद है, तप करने मे निर्जरा और संवर दोनों होते है। मोक्षाभिलाषी पुरुषों को रूप का सेवन करना योग्य है। तपश्चरण के लिये दो बातो का होना जरूरी है, एक तो अपनी शक्ति को न छिपाना, और दूसरे मन को वश मे करना। जो पुरुष अपनी शक्ति को छुपाता है और कहता है कि मुझ से तो तप नही हो सकता, उसके लिये तपश्चरण अङ्गीकार करना असंभव है; और यदि मन वशीभूत न होवे, तो तप

करते हुये भी इच्छा बनी रहेगी, इच्छा के अभाव बिना तप होता नही। तप दो प्रकार का होता है, एक बाह्यतप और दूसरा अन्तरङ्ग तप। जो तप बाह्यद्रव्य की अपेक्षा होता है, और सब को बाहर से दीखता है वह बाह्यतप कहलाता है। जिस तप का साधन मन के निरोध द्वारा किया जाता है और जो बाह्य से दूसरों को दिखाई नही देता वह अन्तरग तप है।

बाह्यतप छह प्रकार का होता है.—

१ अनशन—लौकिक मान बड़ाई की वाञ्छा न करके संयम सिद्धि के अर्थ, कर्मों के क्षय के निमित्त कषाय परिणामों को दूर करने के अभिप्राय से, ध्यान स्वाध्याय की सिद्धि के लिये स्वाद्य, खाद्य, लेय, पेय चार प्रकार के आहार के त्याग करने का नाम अनशन है।

२ अवमौदर्य संयम की सिद्धि के अर्थ, निद्रा के जीतने के हेतु, सन्तोष स्वाध्याय की प्राप्ति के निमित्त, भूख से थोड़ा आहार लेने का नाम अवमौदर्य तप है।

३ विविक्त शय्यासन—जीवों की रक्षार्थ, प्रासुक क्षेत्र में ब्रह्मचर्य पालन तथा स्वाध्याय, ध्यानादिक क्रियाओं को निर्विघ्नता पूर्वक करने के लिये पर्वत, गुफा, वस्तिका श्मसान भूमि, बन, खण्डर आदि एकान्त स्थानों में सोने बैठने का नाम विविक्त शय्यासन तप है।

४. रस परित्याग—इन्द्रियों के दमनार्थ, स्वाध्याय, आनन्द की प्राप्ति के लिये, आलस्य तथा निद्रा को जीतने के निमित्त दूध, दही, घी, तेल मीठा, नमक आदि समस्त रसों का या कुछ कम

त्याग करना रस परित्याग कहलाता है।

५. कायक्लेश—शरीर से ममत्व भाव को त्याग कर कठिन कठिन रीति से तपस्या करते हुवे, पीड़ा के सहन करने को काय क्लेश नामा तप कहते है। इस तप के करने से सुख की अभिलाषा क्षीण होती है, राग का अभाव होता है, दुख सहन करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है, जिन धर्म की प्रभावना बढ़ती है।

६. व्रत परिसंख्यान—इस प्रकार की प्रतिज्ञा कर के कि "अमुक मुहल्ले मे मिलेगा वा अमुक रीति से मिलेगा तो आहार करूँगा अन्यथा नहीं" आहार के लिये जाना, और यदि योग्य भिक्षा विधि न बने तो वापस बन मे जा कर उपवासादि करना, इस का नाम व्रतपरिसख्यान नामा तप है। इस तप से आशा तृष्णा का नाश होता है।

अन्तरङ्ग तप भी छह प्रकार का होता है:—

१ विनय—पूज्य पुरुषों का आदर करना विनय तप है। विनय दो प्रकार की होती है, एक मुख्य विनय, दूसरी उपचार विनय। सम्यक्दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को पूज्य बुद्धि से आदर भाव पूर्वक अङ्गीकार करना मुख्य विनय है। इसी रत्नत्रय के धारक आचार्यादिकों को आदर पूर्वक नमस्कारादि करना उपचार विनय है। इन्हीं आचार्य आदि की भक्ति से प्रेरित होकर परोक्षरूप मे उनके तीर्थक्षेत्रादिकों की वंदना करना भी उपचार विनय का ही विशेष भेद है। विनय तप से मान कषाय क्षीण होता है, ज्ञानादिक गुणों की प्राप्ति होती है।

२ वैयाव्रत—पूज्य पुरुषों की भक्ति पूर्वक सेवा, चाकरी तथा टहल करना। इसके भी दो भेद हैं, काय चेष्टा जन्य जैसे हाथ से पाँव आदि का दबाना; पर वस्तु जन्य जैसे भोजन में औषधादिक देकर साधुओं के रोग मिटाना, इस तप से गुणानुराग होकर मान कषाय का अभाव होता है।

३. प्रायश्चित—प्रमाद से लगे हुवे दोषों को प्रतिक्रमण आदि पाठ, अथवा गुरु के सामने, तप व्रतादि अङ्गीकार करके, या कामोत्सर्गादि करके दूर करने को प्रायश्चित कहते है। इस तप से व्रतों की शुद्धता होती है, परिणामों की शल्य मिट जाती है, और भी अनेक गुणों की प्राप्ति होती है।

४ उत्सर्ग—धन धान्यादिक बाह्य और क्रोध मानादि अन्तरंग परिग्रहों में अहकार ममकार रूप भावों के त्याग करने को उत्सर्ग तप कहते है। इस तप से निष्परिग्रहत्व और निर्ममत्व प्रगट होकर मोह क्षीण होता है।

५. स्वाध्याय—ज्ञान भावना मे आलस्य न करना, जो कुछ आप जानता है, उसको आप पढ़ना, दूसरों को सुनाना किसी शब्द तथा अर्थ मे संशय हो जाने पर उसे दूर करने के लिये विशेष ज्ञानियों से पूछना श्रद्धानपूर्वक जाते हुवे अर्थ को मनन करके अभ्यास करना और बार बार चिन्तवन करना, पाठ को शुद्धतापूर्वक बारम्बार घोखना, धर्म के इच्छुक भव्य पुरुषों को धर्मोपदेश देना, यह स्वाध्याय तप है इस से बुद्धि का विकाश होता है, परिणाम उज्वल रहते है, संवेग होता है, धर्म की वृद्धि होती है, इत्यादि अनेक गुणों की प्राप्ति होती है।

६. ध्यान—समस्त चिन्ताओं का निरोध करके धर्म मे या आत्म चिन्तवन मे एकाग्र होने का नाम ध्यान है। अर्हन्त आदि के चिन्तवन मे प्रवर्तना शुभ ध्यान है, केवल शुद्धात्माओं मे एकाग्र होना शुद्ध ध्यान है। ध्यान चार प्रकार का होता है आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान। इन मे मे आर्त्त ध्यान और रुद्रध्यान तो सर्वथा ही त्याज्य है। धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान ग्रहण करने योग्य है। इन दोनो ध्यानों के सिवाय अन्य समस्त ध्यान भयानक ससार का कारण है।

(क) आर्त्तध्यान—पूर्व कृत शुभाशुभ कर्म के उदय होने पर जीव के हृदय मे जो अप्रशस्त सकल्प विकल्प उत्पन्न होते है, उसे आर्त्त ध्यान कहते है—आर्त्त ध्यान के चार भेद है :— १ अनिष्टसंयोगज, २ इष्ट वियोगज, ३ पीडा चिनवन, ४ निदान।

(अ) अनिष्ट सयोगज—अपने शरीर, धन, आजीविका स्वजन मित्रादिक के नष्ट भ्रष्ट करने वाले कारणो के उपस्थित हो जाने पर; दुष्ट पड़ोसियो, दुष्ट बाँधवो तथा दुष्ट स्त्री पुत्रादिका संयोग हो जाने पर तथा अन्य ऐसे ही अनिच्छित वस्तुओ के संयोग हो जाने पर परिणामो मे सक्लिशित होना और यह विचार करना कि जिस तरह भी बने इन अनिष्ट वस्तुओंसे मेरा पीछा छूटे तो मुझे कुछ सुख मिले, इत्यादि सकल्प विकल्प की परंपरा का नाम अनिष्ट सयोगज आर्त ध्यान है। अनिष्ट सयोग मे दिन मे, रात्रि मे, घरमे या बाहर किसी जगह भी किसी समय मे भी क्लेश दूर नहीं होता है। इसीलिये इस से घोर कर्म का बन्ध होता है।

(आ) इष्ट वियोगज—चित्त को आनन्द देने वाले अनेक लौकिक सुखों के कारण आज्ञाकारी स्त्री, पुत्र, बान्धव मित्रादिक का वियोग हो जाने पर, आजीविका के नष्ट भ्रष्ट हो जाने पर, राज्यपद के भ्रष्ट हो जाने पर तथा धन सपदा जायदाद आदि के नष्ट हो जाने पर, तथा अन्य ऐसे ही कारण हो जाने पर शोक, भ्रम, भय मूर्छादिक का होना, बारबार उनके पुनः सयोग का चिन्तवन करना, रुदन करना, बिलाप करना, विव्हल हो हाहा-कार करना इस वियोगज नाम का आर्तध्यान है।

(इ) पीडाचिंतवन—असाता वेदनी कर्म के उदय से शरीर मे रोग हो जाने पर, रोग नाश के अर्थ बराबर संक्लेशित होना परिणामों मे थिरता न लाकर दुःखी रहना, खेद खिन्न होना पीडा चिन्तवन आर्तध्यान है।

(उ) निदान—पाँचों इन्द्रियों सम्बन्धी भोग की अभिलाषा करना उनकी चाह की दाह मे निरन्तर जलते रहना, दूसरा की विभूति देख देख कर भूरना और अपने अन्तःकरण में इच्छा करना कि ऐसी ही विभूति मुझे भी मिले तो मै भी भोगों को भोग कर अपना जन्म को सफल करूँ। संयम व्रत नियम आदि का पालन करके उसके फल रूप सांसारिक विषय भोगो की वाञ्छा अपने लिये तथा अपने कुटुम्बियों के लिये करना।

(ख) रौद्रध्यान—जिस प्रकार मनुष्य की बुद्धि मदिरा पान से विवेक शून्य हो जाती है और फिर वह मनुष्य झूठ कार्य करने मे ही विशेष आनन्द मानता है वैसे ही संसारी जीव अनादिकाल से कर्मरूप मदिरा के नशे मे मस्त हो कर पुनः

समार मे परिभ्रमण कराने वाले दुष्कृत्यों मे ही प्रवृत्ति कर के आनन्दित होता है; उस दुष्कर्म जन्य आनन्द से जीव के अन्तःकरण मे जो विचार पैदा होता है उसे ही रौद्रध्यान कहा गया है। रौद्र ध्यान के भी चार भेद है:—हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द तथा परिग्रहानन्द।

(१) हिसानन्द— हिसा करने मे, कराने मे तथा किसी द्वारा हिसा हुई सुन कर आनन्द मानना।

(२) मृषानन्द—असत्य बोल कर दूसरों से बुलवा कर तथा असत्य बोलने वाले की अनुमोदना करके आनन्द मानना।

(३) चौर्यानन्द—चोरी करके, दूसरो से चोरी कराके तथा चोरी कराने वालों की अनुमोदना करके आनन्द मानना।

(४) परिग्रहानन्द—आप परिग्रह बढ़ाकर, दूसरो से बढ़वाकर, किसी को परिग्रह बढाते हुवे देख कर उस की अनुमोदना कर के आनन्द मानना।

यह चारों प्रकार का आर्त्त ध्यान और चारों रौद्रध्यान तिर्यच गति तथा नरक गति के कारण है, इन के त्यागे बिना धर्म ध्यान नहीं होता।

(ग) धर्म ध्यान—"वस्तु स्वभावो धम्मः" अभेद विवक्षा से वस्तु स्वभाव का नाम धर्म है—जीव का चैतन्य स्वभाव ही इस का धर्म है। भेद विवक्षा से उत्तम क्षमादि तथ रत्नत्रयादिक धर्म है—निश्चयनय से अपने चैतन्य स्वभाव की रक्षा अर्थात आत्मा का विभाव परणति रूप नही परिणमने देना धर्म है, व्यवहार से अन्य जीवों को विभाव रूप अर्थात् दु:ख क्लेश रूप नही करना

धर्म है। जो मनुष्य धर्म मे, अपने चित्त को जिस समय एकाग्र करता है, वह उस समय इन्द्रिय विषयों को नहीं वेदता है ,क्यों कि संसार और देह सम्बन्धी भोगों मे विरक्त होने का नाम वैराग्य है और बिना वैराग्य भाव धर्म मे चित्त की एकाग्रता होती नहीं। धर्म ध्यान के साधन के लिये स्थान की शुद्धता और आसन का शुद्धता और दृढ़ता की भी बड़ी आवश्यकता है। धर्म ध्यान सम्यक् दृष्टि के होता है। उत्तम संहननवालों के तो धर्म ध्यान की दृढ़ता होती ही है, परन्तु जो हीन संहनन के धारक हैं उनके लिये स्थानकी शुद्धता और आसन की दृढ़ता धर्म ध्यान करने के लिये बड़ी आवश्यक हैं। धर्म ध्यान चतुर्थ गुण स्थान से लेकर सातवे गुणस्थान तक होता है। धर्म ध्यान के चार भेद हैं:--

१ आज्ञा विचय—भगवान सर्वज्ञ वीतराग के कहे हुये आगम के अनुकूल जीवादिक छह द्रव्य, पंचास्तिकाय सात तत्वों तथा नौ पदार्थों के स्वरूप का निश्चय करना आज्ञा विचय धर्म-ध्यान है।

२. अपाय विचय—हमारे रागादि दोषों का, अज्ञान का तथा कर्मों का नाश कैसे होवे, दूसरे प्राणियों का दोष व कर्म मल कैसे दूर होवें, ऐसा विचार करना 'अपाय विचय' नाम धर्म ध्यान है।

३ विपाक विचय—कर्मों के शुभाशुभ फल का स्वरूप विचारना। कर्म सिद्धान्त के अनुसार कर्मों के बंध उदय सत्ता आदि का चिंतवन करना। ज्ञानावरण आदि कर्म के उदय को अपने निज शुद्ध चिदानंद स्वरूप से भिन्न चिन्तवन करना। विपाक विचय नामा धर्म ध्यान है।

४. संस्थान विचय—तीन लोक का आकार विचारना, व अपने आत्मा के स्वरूप का चिन्तवन करना। इस संस्थानविचय धर्म ध्यान के भी चार भेद हैं, पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत धर्मध्यान—

(अ) पिंडस्थः—ध्यान करने वाला अपने मन वचन, और काय को शुद्ध करके एकान्त स्थान मे जावे और वहाँ पद्मासन खड्गासन या अन्य किसी ध्यानासन द्वारा तिष्ठ कर अपने शरीर में विराजत ज्योतिस्वरूपी निज आत्मा का ध्यान करे—यह पिंडस्थ ध्यान है।

(आ) पदस्थ--णमोकार मंत्र का "असिआउसा" "अरहन" "सिद्ध" "अर्हं" "ओं" ऐसे मंत्र पदों का ध्यान करना। पदों के द्वारा पदों के वाचक पंच परमेष्ठी का ध्यान करना।

(इ) रूपस्थ—समवशरण मे विराजमान तीर्थंकर के स्वरूप का ध्यान करना। किसी अर्हन्त की प्रतिमा का ध्यान करके अर्हन्त के स्वरूप का विचार करना।

(उ) रूपातीत—सिद्ध आत्मा का तथा अपने शुद्धात्मा का ध्यान करना।

(घ) शुक्लध्यान—धर्मध्यान का अभ्यास करते करते जब मुनिगण सातवें गुणस्थान से आठवें गुणस्थानमें जाते हैं, तब से शुक्लध्यान को ध्याते हैं-यह भी चार प्रकार का होता है। इनमें से पहले दो शुक्लध्यान तो पूर्व के ज्ञाता द्वादशाँग के धारक मुनि-

श्वरों के होते हैं। पिछले दो शुक्लध्यान केवली भगवा के होते हैं।

(१) पृथक्त्व वितर्क विचार—यद्यपि शुक्लध्यान में ध्याता बुद्धि पूर्वक शुद्धात्मा में ही लीन होता है तथापि उपयोग की पलटन जिसमें इस तरह होवे कि मन वचन काय का अवलम्बन पलटता रहे, शब्द पलटता रहे, ध्येय पदार्थ पलटता रहे, वह पहला शुक्ल ध्यान है, यह आठवें से ११ वें गुण स्थान तक होता है।

(२) एकत्व वितर्क अविचार—जिस शुक्ल ध्यान से मन, वचन, काय योगों में से किसी एक पर, किसी एक शब्द व किसी एक पदार्थ के द्वारा उपयोग स्थिर हो जावे वह दूसरा शुक्लध्यान बारहवें गुणस्थान मे होता है।

(३) सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति—अरहन्तका काय योग जब तेरहवें गुणस्थान के अन्त मे सूक्ष्म रह जाता है तब यह ध्यान कहा जाता है।

(४) व्युपरत क्रिया निवृत्ति—सब सर्व योग नहीं रहते व जहां निश्चल आत्मा हो जाता है, तब यह चौथा शुक्ल ध्यान अन्त के चौदहवें गुणस्थान मे कहा जाता है। यहां जीव सर्व कर्म से विमुक्त हो परमात्म पद अर्थात् सिद्धपद को प्राप्त हो जाता है।

(ध्यान का विशेष वर्णन ज्ञानार्णव ग्रन्थ से पढ़ना चाहिए)

इस प्रकार बारह प्रकार के तप का वर्णन किया गया।

साधुओं के षट् आवश्यक

दोहा—समता धर बन्दन करें, नाना थुति बनाय ।
प्रतिक्रमण स्वाध्याय युत, कायोत्सर्ग लगाय ॥

१. समता—राग द्वेष रहित साम्यभाव का धारण करना-अर्थात् सामायिक करना ।

२. वन्दना—तीर्थंकर भगवान को नमस्कार करना उनके सन्मुख सिर आदि अङ्गों को नम्रीभूत करना ।

३. स्तुति—तीर्थंकर भगवान् के गुणों का कीर्तन करना, उनका गुणानुवाद करना, उनके गुणो की महिमा गाना ।

४. प्रतिक्रमण—प्रमाद द्वारा लगे हुवे दोषों को दूर करना ।

५. प्रत्याख्यान—त्याग भाव से आगामी काल सम्बन्धी आस्रव को रोकना ।

६. कामोत्सर्ग—शरीर से ममत्व भाव का त्याग करना, सामायिक तथा ध्यानके समय पाषाण की मूर्ति के समान निष्कम्प और अचल होना, ऐसा कि अनेक कारण उपस्थित हो जाने पर भी चलायमान न होवे ।

इन छहों क्रियाओं को नितप्रति करना जरूरी है; इसी लिये इनको षट् आवश्यक कहा जाता है । मुनियों को तो इनको नितप्रति करना ही पड़ता है; गृहस्थों को भी चाहिये, कि अपनी पदवी के अनुसार जो क्रिया उनमे बन सके उसको ग्रहण करें ।

षोडश कारण भावना

"भावना भवनाशिनी"—वास्तव में भावनाओं का भावना परपराय मे मोक्षपद का कारण है। यहां हम अब षोडशकारण भावनाओं का संक्षिप्त वर्णन करना उपयोगी समझते हैं। यह भावनाएं परिणामों की शुद्धि के लिये बड़ी आवश्यक हैं। यही तीर्थंकर प्रकृत्ति बन्ध का कारण है, पाप क्षय करने वाली है, भाव मल का विध्वंश करने वाला है, इन के पढ़ने सुनने से संसार बन्ध छेदा जाता है, आत्म कल्याण के अभिलाषी निरन्तर इनका मनन किया करते हैं।

(१) दर्शन विशुद्धि भावना--अनादि काल से यह जीव मिथ्यात्व कर्म के वशीभूत हुवा अपने निज स्वरूप को भूल ससार रूपी गहन बन मे भ्रमण कर रहा है। अपने स्वभाव से शुद्ध होते हुवे भी मिथ्यात्व विकार के निमित्त से अशुद्ध, रागी द्वेषी दिखाई दे रहा है। यह अग्रहित मिथ्यात्व तो अनादि काल से चला ही आ रहा है। इसी के कारण पुत्र, पौत्रादि धन धान्यादि ससारीक विभूति का भूखा यह संसारी जीव कुदेव, कुगुरू कुधर्म की सेवा करने लग जाता है और उनकी भक्ति को ही अपने लिये कल्याण कारी समझ बैठता है। उचित है कि गहीत मिथ्यात्व का त्याग किया जावे, और सच्चे हृदय से वीतराग, सर्वज्ञ हितोपदेशी देव, निर्ग्रन्थ दिगम्बर गुरू तथा परम अहिंसामय धर्म के उपासक बनें। अपने शुद्ध चिदानन्द स्वरूप आत्मा के स्वरूप का चिन्तवन किया करें। ऐसा अभ्यास करते रहने से अनन्तानुबन्धी

कषाय और मिथ्यात्व की कालिमा दूर हो जाती है और सम्यक् दर्शन रूपी रत्न प्रगट हो जाता है। व्यवहार सम्यक्ती जीव निश्चय सम्यक्त का साधन करते हुए सम्यक्त के २५ दोषों के बचाने का सतत प्रयत्न और अभ्यास किया करता है। सम्यक् दर्शन को नष्ट करने वाले दोषों को त्याग करने से ही सम्यक् दर्शन की उज्ज्वलता होती है। तीन मूढ़ता, अष्टमद, छह अनायतन, शंकादिक अष्ट दोष, ये सब मिल कर सत्यार्थ श्रद्धान को मलीन करने वाले २५ दोष है। इन को दूर करके निर्मल शुद्ध सम्यक्दर्शनकी प्राप्ति के निमित्त ही दर्शन विशुद्धि भावना का चिन्तवन किया जाता है।

आठ दोष मद आठ मलीन, छह अनायतन शठता तीन।
ये पचीस मल वरजित होय, दर्श विशुद्धि कहावें सोय॥

२. विनय सम्पन्नता—मोक्ष के साधन सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रत्नत्रय धर्म का पालना, बड़े आदर भाव से इनकी और इनके पालन करने वाले साधु श्रावक आदि की भक्ति करना, विनय करना विनय सम्पन्नता है। विनय दो प्रकार का होता है, एक अन्तरंग विनय, दूसरा बहिरंग विनय। गुणों मे भक्ति होना अन्तरंग विनय है, उसके प्रकाश के लिये वचनों से विनय प्रदर्शक शब्द कहना व कायका नम्री भूत करना बहिरंग विनय है। मान कषाय के अभाव से ही विनयगुण आत्मा में प्रकाश मान होता है, परमार्थ तथा व्यवहार दोनों प्रकार की विनय को धारण करना गृहस्थ के लिये योग्य है। यदि व्यवहार में किसी की विनय नहीं कर सकते तो उसकी निन्दा

तथा तिरस्कार कभी करना ही उचित नहीं। मनुष्य जन्म का मंडन विनय ही है। इसलिये सदैव भावना करनी चाहिये कि विनय बिना हमारे मनुष्य जन्म की एक घड़ी भी न जावे।

रत्नत्रय धारी मुनिराय, दर्शन ज्ञान चरित समुदाय।
इनकी विनय विषै परवीन, दुतीय भावना सो अमलीन ॥

३. शीलव्रतेष्वनतिचार भावना—अहिंसा आदि पंच व्रतों के पालने मे तथा क्रोधादि कषाय वर्जित समता रूप परिणामों को सुरक्षित रखने मे कोई दोष नहीं लगने देना। मन वचन काय की प्रवृत्ति को दूषित न होने देना तीसरी भावना है। सम्यक् दृष्टि को यह ध्यान बना रहता है कि जो नियम प्रतिज्ञा संयम पालने का विचार मैंने किया है, उसको मे पूर्ण दृढ़ता से पालन करूँ। परिणामों की उज्वलता सम्यक् प्रकार नियमों के पालन करने मे ही है। नियमों का पालन करना बड़ा जरूरी है क्योंकि बिना नियम कोई चारित्र का साधन नहीं होता और बिना चारित्र के कोई उन्नति नहीं होती। भावना करनी चाहिये कि क्रोधादि कषाय जो आत्मा के प्रबल शत्रु है वे मेरी आत्मा को कभी विकृत न करने पावे।

वास्तव में शील, आत्म स्वभाव को ही कहते हैं। पंच पाप आत्म स्वभाव के घातक है। उन में कुशील पाप अन्य पापों की पुष्टि करने वाला है तथा क्रोधादि कषायों में तीव्रता पैदा करता है इसलिये ब्रह्मचर्य की प्रधानता को ध्यान में रखते हुवे यह भी कह दिया गया है कि निर्दोष ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना तीसरी भावना है।

शील भार धारै समचेत, सहस अठारह अंग समेत।
अतिचार नहीं लागै जहाँ, तृतीय भावना कहिये तहा ॥

४. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना—निरंतर जीवादि सात तत्वों के चिंतवन मे, आत्म स्वरूप के मनन मे अपने ज्ञानोपयोग को लगाये रखना समय का बहुत उत्तम उपयोग है। शास्त्र स्वाध्याय करना, शास्त्र पढ़ना लिखना, धर्माभिलाषियों को धर्मोपदेश देकर धर्म श्रवण करना, विशेष ज्ञानी गुरु जन की बड़ी नम्रता पूर्वक वंदना विनय करना, सब अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। भावना करो कि ज्ञान के समान इस जीव के लिये अन्य कोई भी कारण सुखदायी नहीं है, हमारे जीवन की एक घड़ी भी सम्यक् ज्ञान के बिना न जाने पावे। ज्ञान ही से सम्यक् दर्शन होता है। ज्ञान ही से मोक्ष होता है, सम्यक् ज्ञान आत्मा का स्वाधीन धन है, परलोक मे भी ये ही जीवके साथ जाता है

आगम कथित अर्थ अवधार, यथाशक्ति निजबुद्धि अनुसार।
करै निरन्तर ज्ञानाअभ्यास, तुरिय भावना कहिये तास ॥

(५) संवेग भावना—संसार शरीर भोगों से विरक्त हो कर धर्म तथा धर्म के फल मे अनुराग करना संवेग है। संसार क्षण भंगुर है, देह विनाशीक है, भोग बुरे है, धर्म रत्न के चोर है, दुर्गति मे ले जाने वाले है, ज्यों २ भोग सामग्री इस जीव को मिलती जाती है उतना ही अधिक २ इस की तृष्णा बढ़ती रहती है। पुत्र स्त्री तथा कुटम्बी जन सब ही स्वार्थ के सगे है। एक रत्नत्रय धर्म ही मेरा सहायक है, वही मेरा परम कल्याणकारी सच्चा मित्र है, वही मुझे संसार भ्रमण से छुड़ा मोक्ष के अविकार

अविनाशी सास्वत: सुख में स्थित कराने वाला है। ऐसा विचार धर्मात्माओं को देख हर्षित होना, धर्म कथिनी मे रंजायमान होना, भोगों से विरक्त होना संवेग है, इसलिये अपने कल्याण के हेतु सदैव संवेग भावना का चिन्तवन करो।

धर्म धर्म के फल विषै, वरतै प्रीति विशेष।
यही भावना पंचमी, लिखी जिनागम देख॥

६. शक्तितस्त्याग--अपनी शक्ति को न छिपा कर निरन्तर चार प्रकार का दान देने की भावना करते रहना--आहार दान, औषधि दान, ज्ञान दान तथा अभय दान—यह चार प्रकार का दान बाह्य दान कहलाता है। राग द्वेष आदि विकार भावो का त्याग अन्तरंग त्याग कहलाता है। मनुष्य का जन्म त्याग से ही सफल है।

चौ०—*औषधि अभय ज्ञान आहार, महा दान यह चार प्रकार।*
शक्ति समान सदा निर वहै, छठी भावना धारक वहै॥

७. शक्तितस्तप—अपनी शक्ति को न छिपा कर बड़े आदर भाव के साथ बारह प्रकार के तप का, कर्मो की निर्जरा के हेतु तथा ध्यान की सिद्धि के निमित्त करना। मुख्य तप तो आत्मध्यान है, इससे कर्मों की निर्जरा विशेष होती है।

अनशन आदि मुक्ति दातार, उत्तम तप बारह परकार।
बल अनुसार करै जो कोय, सो सातमी भावना होय॥

८. साधु समाधि—जैसे भण्डार में अग्नि लग जाने पर उसे बुझाया जाता है, वैसे ही यदि साधुओ पर कोई उपसर्ग या संकट आन पड़े तो अपनी तन, मन, धन की शक्ति लगा कर उसको दूर करना और साधुओंको समाधि भाव में स्थिर रखना चाहिये।

यती वर्ग को कारण पाय, विघन होत जो करे सहाय ।
साधु समाधि कहावे सोय, यही भावना अष्टम होय ॥

९. वैयावृत्ति—रोगी, बूढ़े, थके साधुओं तथा श्रावकों की निर्दोष, आहार, औषधि, वस्तिकादि द्वारा सेवा सुश्रुषा करना। उपसर्ग आने पर, किसी आपत्ति तथा संकट के पड़ने पर पाप रहित विधि से उस संकट को दूर करना और उनकी सेवा करना वैय्यावृत्य है। मुनि मुनियों की वैय्यावृत्य करते हैं, श्रावक श्रावको और मुनियों की दोनों की वैयावृत्य करते है। परोपकार, सेवा टहल सब ही वैयावृत्य हैं। सेवा धर्म एक बड़ा धर्म है। इसमे बड़ा आनन्द होता है, क्योंकि सेवा में मोह का त्याग होता है और जहाँ त्याग है वहाँ सुख है आनन्द है।

मुनियों के दस भेद हैं:—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य ग्लान, गुण, कुल, संघ, साधु, मनोज्ञ। इन दस प्रकार के मुनियों के परस्पर वैयावृत्य होता है। शरीर को दबाना, पाँव रौलना इत्यादिक काय की चेष्टा तथा अन्य द्रव्य द्वारा दुःख वेदना दूर करने रूप प्रवृत्ति सब वैयावृत्य है।

अपने चैतन्य स्वरूप आत्मा को रागद्वेषादिक दोषों से लिप्त नहीं होने देना, उनसे सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना, आत्म वैयावृत्य है। आत्मा को भगवान के परमागम मे लगाये रखना दशलक्षण धर्म तथा रत्नत्रय धर्म मे लीन रखना, इन्द्रिय विषयों के आधीन नहीं होने देना आत्म वैयावृत्य है। उपद्रव के समय, महामारी हो जाने पर, दुर्भिक्ष हो जाने पर, दीन दुखी जीवों को स्थान देकर आहार वस्त्र औषधि आदि का प्रबन्ध करना, उनकी

पीड़ा करुणा बुद्धि पूर्वक यथा शक्ति दूर करना सब वैयावृत्य है। सामर्थ होते हुवे भी जो कोई अपनी शक्ति को छिपाकर वैयावृत्य नहीं करता है, वह धर्म रहित है। धन खर्च देना सुलभ है, परन्तु रोगी की टहल सुश्रषा करना कठिन है। जो मायाचार रहित होते है, जिनके मिथ्याज्ञान का अभाव हो जाता है, जो संसार के विषय भोगों की वांछा रहित है, जो संसार परिभ्रमण से भय भीत है, जिनके चित्त मे जिनेन्द्र प्रभु की मेरु समान निश्चल भक्ति है, वे ही धर्मात्मा पुरुष वैयावृत्य किया करते है। जिसके हृदय मे दया है, अहिंसा है उसके वैयावृत्य है। जिनेन्द्र प्रभु की शिक्षा है कि वैयावृत्य जगत मे श्रेष्ठ धर्म है, जो कोई श्रावक या साधु वैयावृत्य करते हैं सर्वोत्कृष्ट निर्वाण पद को प्राप्त होते है। वैयावृत्य के माहात्म्य को समझ कर हमे नित प्रति भावना करनी चाहिये कि हम अपने जीवन में वैयावृत्य का पालन यथार्थ रीति से करते रहे।

दश विधि साधु जिनागम कहे, पथ पीड़ित रोगादिक कहे।
तिन की जो सेवा सत्कार, यही भावना नौमी सार॥

१० अरहन्त भक्ति—अरहत परमेष्ठी के गुणों मे अनुराग करना अरहन्त भक्ति है। अरहंत भगवान की अष्ट द्रव्य से पूजन करना परिणामों की उज्वलता का बडा कारण है। भाव पूजा मुख्य है, द्रव्य पूजा भाव पूजा के लिये निमित्त साधक है। अपनी शक्त्यानुसार शुद्ध द्रव्य से यत्नाचार पूर्वक पूजन करना विशेष पुण्य बंध का कारण है। भावना किया करो:—

"जिनेः भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिः सदाऽस्तुमे ।
सम्यक्त्वमेव संसार वारणं मोक्ष कारण" ॥

चौ० *परम पूज्य आतम अरहंत, अतुल अनन्त चतुष्टयवत*
तिनकी थुति नुति पूजा भाव, दशम भावना भव जल नाव ॥

११. आचार्य भक्तिः—इसी को गुरु भक्ति भी कहते है। आचार्य महाराज पंचाचार का आप पालन करते है, सघके अन्य मुनियों से उनका पालन कराते है, दीक्षा शिक्षा देते है, आचार्य मुनि संघ के अधिपति होते है। वह छत्तीस गुणो के धारक होते है, अन्तरङ्ग बहिरग के बारह तप करते है, दशलक्षण धर्म का पालन करते है पंचाचार पालते है, षट आवश्यक को नित प्रति करते है, और तीनों गुप्ति का पालन करते है। आचार्य बडे प्रवीण होते है, बड़े उत्साही ज्ञानवान, धैर्यवान, दृढ़ तपस्वी तथा व्यवहार प्रायश्चित सूत्र के पूर्णरूप से जानने वाले होते है। आचार्य की भक्ति से चारित्र की शुद्धि होती है, परिणाम निर्मल होते है। इसलिये भावना करनी चाहिये—

गुरौर्भक्ति गुरौर्भक्ति गुरौर्भक्ति सदास्तुमे
चारित्रमेव ससार वारण मोक्ष कारणं ॥

चौ०—*जिनवर कथित अर्थ अवधार, रचना करै अनेक प्रकार ।*
आचारज की भक्ति विधान, एकादशम भावना जान ॥

१२. बहुश्रुत भक्तिः—अंग पूर्वादिक के ज्ञाता, चारो अनुयोगों (प्रथमानुयोगादि) के पारगामी, स्वय परमागम का पाठ करने वाले तथा दूसरों को पढ़ाने वाले मुनिराज बहुश्रुती कहलाते हैं। श्रुत ज्ञान इनका दिव्य नेत्र होता है, अपना तथा परका हित

साधन में ये सदैव तत्पर रहते हैं। अपने जिन सिद्धान्त तथा अन्य एकान्त वादियों के सिद्धान्तों को विस्तार पूर्वक जानते हैं ऐसे स्याद्वाद रूप परम विद्या के धारक गुरुओं की भक्ति बहुश्रत भक्ति कहलाती है। ऐसे गुरु उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं, उनकी भक्ति ही यह बारहवीं भावना है। उपाध्याय परमेष्ठी ११ अंग तथा १४ पूर्वों के ज्ञाता होते हैं। इनका ज्ञान होना ही उनके २५ गुण हैं, जो ज्ञानी बहुश्रुतवन्त अर्थात् उपाध्याय परमेष्ठी के गुणों का स्मरण करते हैं, वह परम श्रुत के धारी होते हैं।

चौ०—*विद्यादायक विद्यालीन, गुणगरिष्ट पाठक परवीन ।*
तिन के चरण सदा चित्त रहै, बहु श्रुत भक्ति बारमी यहै ॥

१३. प्रवचन भक्ति—सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र प्रभु द्वारा प्रतिपादित परमागम को, योग्य काल मे बड़ी विनय के साथ पढ़ना प्रवचन भक्ति है। सम्यक्ज्ञान की आराधना प्रवचन भक्ति है। सम्यक् ज्ञान ही जीव का परम बांधव है उत्कृष्ट धन है, परम मित्र है। सम्यक् ज्ञान स्वाधीन अविनाशी धन है। ज्ञान परम देवता है। ज्ञान के अभ्यास बिना व्यवहार और परमार्थ दोनों ही नही सधते। यह प्रवचन भक्ति कल्याण रूप है। ऐसा जान भावना करो :—

श्रुते भक्तिः श्रुते भक्ति श्रुते भक्ति सदास्तुमे ।
सद् ज्ञानमेव ससार वारणं मोक्ष कारणम् ॥

ऐसा जान सदैव अपने चित्त को शास्त्र की भक्ति में लगाओ जो जिनवाणी का पठन पाठन करते हैं वे अपना परम कल्याण करते है।

भगवत भाषित अर्थ अनूप, गणधर ग्रथित ग्रंथ स्वरूप ।
तहाँ भक्ति वरतै अमलान, प्रवचन भक्ति तेरमी जान ॥

१४. आवश्यक परिहाणि—प्रत्येक मुनि तथा श्रावक को अपने छह आवश्यक कर्म अवश्य पालने चाहियें । सामायिक, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग यह मुनियों के षट् आवश्यक है । श्रावकोंके षट् आवश्यक देव पूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, तप अर्थात् सामायिक, दान और संयम हैं इनका यथार्थ पालन करने से धर्म का जो समस्त सुखों का मूल है, साधन होता है । भावना करो कि जब तक मोक्ष पद की प्राप्ति न हो इन षट् आवश्यकों का पालन निर्बाधा होता रहे ।

षट आवश्यक क्रिया विधान, तिनकी कबही करै न हान ।
सावधान वरतै थिर चित्त, सो चौदहमी परम पवित्त ॥

१५. मार्ग प्रभावना—मोक्ष के सत्यार्थ मार्ग का प्रभाव प्रगट करना मार्ग प्रभावना है । मोक्ष मार्ग रत्नत्रय रूप है, रत्नत्रय आत्मा का स्वरूप है । क्रोधादिक कषाय तथा मिथ्यात्व भाव के कारण यह आत्मा मलिन हो रहा है, इस लिये इन विकृत परिणामों को दूर कर आत्मा को उसकी स्वाभाविक परम शुद्ध दशा मे स्थित करना वास्तविक प्रभावना है । भगवत के पूजन अभिषेक द्वारा, दान परोपकार द्वारा, अपने चारित्र की उज्वलता द्वारा, धर्म-तत्व प्रचार द्वारा जिनधर्म के अतिशय बढ़ाना प्रभावना है । जिन शासन के महात्म्य का प्रकाश करना प्रभावना है । कोई ऐसा कार्य नहीं करना जो हिंसा रूप हो, जिससे जिन धर्म की निंदा होती हो, यह सब प्रभावना है । हमे

भावना करनी चाहिये कि हमारे द्वारा जिनशासन की प्रभावना होती रहे।

कर जप तप पूजा व्रत भाव, प्रगट करे जिन धर्म प्रभाव।
सोई मार्ग परभावना, यहै पंच दशमी भावना ॥

१६, प्रवचन वात्सल्य—धर्मात्मा पुरुषों के साथ प्रीति करना वात्सल्य है। गुणीजनों के गुणों से अनुराग करना वात्सल्य है।

चार प्रकार संघ सों प्रीति, राखै गाय वच्छ की रीत।
यही सोलमी सब सुखदाय, प्रवचनवात्सल्य अभिध्याय ॥

इस प्रकार षोडशकारण भावनाओं का वर्णन किया। सोलहकारण धर्म की महिमा अचिन्त्य है। इसका निर्दोष पालन करने से अतिशय रूप अनुपम विभव के धारक तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है।

रत्न त्रय धर्म

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की एकता होना मोक्ष मार्ग है। इन्हीं को तीन रत्न अर्थात् रत्न त्रय कहा गया है। इनका पालन ही मोक्ष का साधन है। कहा है:—

"एको मोक्ष पथोय एव नियतोदृग्ज्ञप्ति वृत्यात्मक—
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्य स्पृशन्।
सोऽवश्य समयस्य सारमचिरान्नित्योदय विदति ॥"

अर्थात सम्यक्दर्शन, ज्ञान चारित्र रूप यही मोक्ष का मार्ग है। जो कोई रात्रि दिन उसी मे तिष्ठता है उसी का मनन करता है, उसीका अनुभव करता है, उसी में ही निरन्तर विहार करता

है, अन्य द्रव्यों को स्पर्श भी नहीं करता है, वही नित्य उदय-रूप शुद्ध आत्मा को शीघ्र ही अवश्य, अवश्य प्राप्त कर लेता है।

यह रत्नत्रय धर्म निश्चय तथा व्यवहार नय की अपेक्षा दो प्रकार का है। निश्चय से शुद्धात्मा के सच्चे स्वरूप का श्रद्धान करना सम्यक् दर्शन है, शुद्धात्मा के सच्चे स्वरूप का जानना सम्यक् ज्ञान है, और शुद्धात्मा के स्वरूप मे रमना सम्यक् चारित्र है, अर्थात श्रद्धा और ज्ञान सहित आत्म ध्यान को ही मोक्ष मार्ग कहते हैं। व्यवहार मोक्ष मार्ग निश्चय मोक्ष माग का साधक है। जिनके द्वारा निश्चय रत्नत्रय का लाभ हो, उनको व्यवहार रत्नत्रय कहते है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वों के या इनमे पुण्य पाप और मिला कर नौ पदार्थों के यथार्थ श्रद्धान को सम्यक् दर्शन, तथा जिनेन्द्र प्रतिपादित आगम के ज्ञान को व्यवहार सम्यक् ज्ञान कहते हैं, अशुभ मार्ग की निवृत्ति शुभ मार्ग की प्रवृत्ति व्यवहार सम्यक चारित्र है।

इस रत्नत्रय धर्म का पालन मुनिराज तो पूर्णतया करते हैं, और गृहस्थ एकोदेश करते है। दोनों प्रकार का रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है। निश्चय रत्नत्रय साक्षात् मोक्ष मार्ग है और व्यवहार परम्परा मोक्ष मार्ग है। ज्ञानी तथा विवेकी जीव गृहस्थ मे रहते हुए भी ससार के विषय भोगों मे विरक्त होते हैं और मोक्ष मार्ग के साधन करने में उद्यमी रहते हैं। उन्हे योग्य है कि अवसर प्राप्त होने पर मुनिपद को धारण कर लेवें और सकल रत्नत्रय धर्म का पालन कर मोक्ष पद को प्राप्त करे।

जीव तीन प्रकार के होते है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा ।

(१) बहिरात्मा-यह जीव तो मिथ्यादृष्टि होते हैं, ये शरीर और आत्मा को एक गिनते है, तत्वों मे अजान होते हैं। इनके रत्नत्रय नहीं होते । इनके परिणाम द्वेषमयी होते हैं, इसी लिये इनके सर्वथा कर्म बंध अवश्य ही हुवा करता है ।

(२) अन्तरात्मा—सम्यक् दृष्टि जीव जो आत्मा को जानते है- ये तीन प्रकार के होते है—उत्तम, मध्यम और जघन्य ।

(क) उत्तम अन्तरात्मा—२४ प्रकार के परिग्रह रहित, शुद्ध परिणामी, आत्म ध्यानी मुनीश्वर होते हैं ।

(ख) मध्यम अन्तरात्मा—पंचम गुण स्थानवर्ती देशवृत्ती श्रावक और छठे गुण स्थानवर्ती मुनिराज मध्यम अन्तरात्मा कहलाते हैं।

(ग) जघन्य अन्तरात्मा—चतुर्थम गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यक् दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा कहलाते हैं । अन्तर आत्माओं के जितने अशो मे राग भाव का अभाव होता है, उतने अंशों में ही बन्ध का अभाव भी होता है । जितने अश से सम्यक् दर्शन है, सम्यक् ज्ञान है, सम्यक् चारित्र है, उतने अश से कर्म बन्ध नहीं है । जिस अंश से राग है, उस अश से बन्ध है ।

(३) परमात्मा—परमात्मा के दो भेद है—सकल परमात्मा और निकल परमात्मा ।

सकल परमात्मा—जिन्होंने चारों घातिया कर्मों अर्थात् दर्शनावरणीय, मोहनीय, ज्ञानावरणीय, और अन्तराय कर्मों का क्षय

कर दिया है, और लोकालोक को देखने वाले सर्वदर्शी हैं, जो क्षुधा, तृषा, भय, क्रोध, रोग, मोह, चिन्ता, जरा, जन्म, मरण, पसीना, खेद, मद, रति, आश्चर्य, निद्रा, राग, आकुलता इन अठारह दोषों से सर्वथा रहित होते है, और समवशरण, अष्ट प्रातिहार्य आदि विभूति संयुक्त होते हैं। परमौदारिक शरीर के धारी सर्वज्ञ; वीतराग, हितोपदेशी, जीवन्मुक्त अरहन्त भगवान् ही सकल परमात्मा हैं।

निकल परमात्माः—भाव कर्म, द्रव्य कर्म, और नो कर्म रूप तीन प्रकार के कर्म मल से रहित, निर्मल. शरीररहित सिद्ध भगवान ही निकल परमात्मा कहलाते है।

एक मिथ्या दृष्टि जीव अनादिकाल में भेद विज्ञान के अभाव से तथा मिथ्यात्व और अज्ञान के सद्भाव से निज स्वरूप को न जानता हुआ कर्म जनित अवस्था में ही तन्मय होकर उनके अनुकूल आचरण करता हुवा परसमयरूप हो रहा है। भेद विज्ञान के प्राप्त हो जाने पर यही जीव अपने शुद्ध चिदानन्द रूप निज स्वभाव को भलि भाँति निश्चय कर उसमे रमण करता है, तो वह वीतराग भाव को बढ़ाता हुवा कर्म के बन्धनों से छूटता चला जाता है और परम्परा से कर्मों से सर्वथा रहित सिद्ध परमात्म पद को प्राप्त कर लेता है।

यहाँ यह बात ध्यान मे रखनी चाहिये कि समस्त व्यवहार चारित्र सकल या एक देश दोनों ही राग द्वेष को घटाने के लिये बताया गया है। संसारी जीवों के परिणाम बाहरी निमित्त वश अन्यथा रूप हो जाया करते है, इसलिये आरम्भ परिग्रह का

त्याग परिणामों को आकुलित और क्षुभित होने से बचाता है, आत्मानुभव में सहायक होता है। निश्चय रत्नत्रयमयी आत्मा का एक शुद्धोपयोग भाव ही कर्म निर्जरा का कारण मोक्ष मार्ग है। जितने अंश कषाय का मन्दोदय भी है वह शुभोपयोग है और बंध का कारण है। यद्यपि अशुभोपयोग की अपेक्षा शुभोपयोग उपादेय है, क्योंकि अशुभोपयोग में पाप बंध होता है और शुभोपयोग से पुण्य बंध होता है, परन्तु एक सम्यक् दृष्टि ज्ञानी पाप और पुण्य दोनों को ही हेय जानता है। वह शुभोपयोग में प्रवृत्ति केवल इसलिये ही करता है कि वह उसके अवलम्बन मात्र से अशुभोपयोग से बचा रहे और शुद्धोपयोग में चढ़ सके। वह तो मात्र शुद्धोपयोग का ही उत्सुक होता है जो आत्मानंद प्रदान करता है, कर्मों की निर्जरा करता है और साक्षात् मोक्ष का साधन है। शुभोपयोग तथा शुद्धोपयोग की अपेक्षा से मुनियों के भी दो भेद कह दिए है। जिस समय मुनियों के पंच परमेष्ठी की भक्ति होती है, साधुओं के प्रति प्रेम होता है, अन्य साधुओं की सेवा करते है, उस समय उनके इस प्रकार की चर्या होने से शुभोपयोग ही होता है। जो मुनीश्वर सम्यक्रूप से जीवादि पदार्थों के ज्ञाता है, बाह्य अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह के सर्वथा त्यागी है और परम समता भाव के धारी है वह साधु शुद्धोपयोगी साधु कहलाते है। शुद्धोपयोगी साधु के ही साधुपना है उन्हीं के ही सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान की एकता है, उन्ही को निर्वाणपद की प्राप्ति होती है और वही अष्ट कर्मों का नाश कर सिद्ध परमात्मा होते है।

वास्तव मे शुद्ध दृष्टिसे देखा जावे तो आत्मा में ही मोक्षमार्ग है, आत्मा मे ही मोक्ष है, आत्मा ही साधक है, आत्मा ही साध्य है; आत्मा मे ही उपाय तत्व है, आत्मा मे ही उपेय तत्व है, श्री समयसार कलश मे कहा है:—

ये ज्ञान मात्र निज भाव मयीमकम्पां ।
भूमि श्रयन्ति कथमप्य पनीत मोहाः ॥
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धाः ।
मूढ़ास्त्वमूमनुप लभ्य परिभ्रमन्ति ॥

भावार्थ—जो किसी भी प्रकार से मोह को दूर करके ज्ञान-मात्र अपने आत्मीक भावमयी निश्चल शुद्धोपयोग रूप भूमि का आश्रय लेते हैं वे साधक होते हुवे सिद्ध हो जाते हैं। अज्ञानी इस आत्मीक भाव को न पाकर भ्रमण करते रहते हैं। निश्चय से मोक्ष मार्ग और मोक्ष आत्मा मे ही हैं। व्यवहार को मात्र अव-लंबन या निमित्त की अपेक्षा से मोक्ष मार्ग कहा है, वास्तव मे वह मोक्ष मार्ग नहीं है। इसलिये एक मुमुक्षु के लिये उचित है कि अपने वास्तविक आत्मीक भाव रूपी मोक्ष मार्ग को समझ कर उसी का प्रकाश अपनी आत्मा मे करे जिससे केवलज्ञान का प्रकाश हो जावे और यह आत्मा सदाके लिये परमानन्दित और मुक्त हो जावे।

पापमरातिर्धर्मोबन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्
समयं यदि जानीते श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति १४८

अर्थ—जीव के पाप शत्रु हैं और धर्म बन्धु हैं। इस

प्रकार ही दृढ़ता पूर्वक विचार करते हुवे यदि अपने आपको जानता है, वही अपने कल्याण का जानने वाला उत्तम ज्ञाता है।

भावार्थ— जो निश्चय से ऐसा विचार करता है कि संसार में इस जीव को सुख दुख देने वाला कोई नहीं है, इस के पाप कर्म ही इस को दुख देने वाले है और धर्म इस के सुख का कारण है वही यथार्थ ज्ञानी है और अपने कल्याण का जानने वाला है।

अब आगे इस ग्रन्थ को समाप्त करते हुये श्री आचार्य वर फरमाते हैं :—

येनस्वयंवीतकलंकविद्या, दृष्टिक्रियारत्नकरंडभावम्
नीतस्तमायातिपतीच्छयेव,सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषुविष्टपेषु

अर्थ—जिस भव्य जीव ने अपने आत्मा को सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी रत्नों का पिटारा बना लिया है, उसे तीन लोक में, पति के निमित्त स्वयंवर विधान करने की इच्छा के समान, धर्म, अर्थ, काम मोक्ष के कारण रूप पदार्थों की सिद्धि रूप कामिनी प्राप्त होती है। अर्थात् जो पुरुष अपने आत्मा को सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नों का पिटारा (कोश) बना लेता है, उसे तीन लोक की सर्वोत्कृष्ट अर्थ की सिद्धि स्वयंमेव प्राप्त होती है।

ग्रन्थकर्ता की अन्य भावना

सुखयतु सुखभूमि, कामिनं कामिनीव—
सुतमिव जननी मां शुद्ध शीला भुनक्तु ॥
कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनीता—
ज्जिनपतिपदपद्म प्रेक्षिणी दृष्टि लक्ष्मीः ॥१५०

अर्थ—जैसे काम की आताप को धारण करने वाले कामी पुरुष को कामिनी सुखी करती है, जैसे शुद्ध शीला शुद्ध स्वभाव की धारक माता अपने पुत्र का पालन पोषन करती है और जैसे एक गुणवान कन्या कुल को पवित्र करती है, वैसे ही श्री जिनेन्द्र प्रभु के चरण कमल को अवलोकन करने वाली सम्यक्‌दर्शन रूपी लक्ष्मी मेरे मिथ्या ज्ञान जनित आताप को दूर करके मुझे नित्य अनन्त ज्ञानादि रूप आत्मीक सुख को प्राप्त करें, संसार के जन्म जरा मरणादि दुखों को दूर करके मेरे अनन्त चतुष्टय रूप निज स्वरूप को पुष्ट करें और राग द्वेष मोह रूप मल को धोकर मेरे आत्म स्वरूप को उज्ज्वल करें।

इति श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य विरचित रत्नकरंड श्रावकाचार की हिन्दी भाषा टीका सरल टीका समाप्त भई ।